स्तनपोषी जन्तु

[शिशु-जीवन में माता का दूध पीकर पोषण पाने वाले जन्तुओं की कहानी]

लेखक

जगपति चतुर्वेदी, सहा० सम्पादक 'विज्ञान'



कि ता ब म ह ल

इ ला हा बा द

प्रथम संस्करण, १९५५

प्रकाशक—किताब महल, ५६ जीरो रोड, इलाहाबाद ।

प्रकाशक—अनुपम प्रेस, १७ ए. जीरो रोड इलाहाबाद ।

दो शब्द

जन्तुओं के रूप-निर्माण में अन्तिम सोपान पर उन जन्तुओं को माना जाता हैं जो माता के स्तन से दुग्धपान कर अपने शैशवकाल में पोषण पाते हैं। उन्हें ही स्तनपोषी, स्तनिन या स्तनपायी नाम दिया जाता है। उन्हीं में एक ओर निरीह शाकाहारी गाय, बैल, हिरण, मृग, बकरे, बकरी तथा नाना प्रकार के अन्य शृङ्गधारी या खुर वाले जन्तु हैं तो दूसरी ओर सिंह, व्याघ्र, भेड़िए, लकड़बग्घे, भालू आदि हैं। अन्य विशाल या क्षुद्रकाय जन्तुओं की भी कमी नहीं। किन्तु हमें ऐसे भी विचित्र जन्तु मिलते हैं, जो सदेह शिशु के उत्पन्न करने के स्थान पर अंडे ही उत्पन्न करते हैं, उन अंडों को कुछ समय सेने के बाद जो शिशु उत्पन्न होते हैं, वे अपनी माता के दुग्ध का पान करते हैं। माता के शरीर में स्तन न होने पर भी रोमों द्वारा ही दूध स्रवित होकर शिशुओं के मुख में पहुँचता है। बतचोंचे ऐसे ही जन्तु हैं। अंडे की जगह अत्यन्त क्षुद्र, असहाय शिशु ही उत्पन्न कर उन्हें पेट या पीठ की विशेष थैली (शिशुधानी) में बहुत दिनों तक पोषण के लिए रखने वाले जन्तुओं को हम कंगारू नामों से जानते ही हैं। इन सब विविध स्तनपोषी जन्तुओं का वर्णन तथा श्रेणी-विभाग इस पुस्तक में दिया गया है। आशा है पाठकों को इन वर्णनों से यथेष्ट ज्ञानवर्द्धन तथा मनोरञ्जन होगा।

जगपति चतुर्वेदी

विषय-सूची

स्तनपोषी जन्तु क्या हैं ?

स्तनपोषी का अर्थ माता का दुग्ध पान कर जीवन प्रारम्भ करने वाला है। सभी स्तनपायी तो 'जंतु' होते हैं, परंतु सभी जंतुओं को स्तनपायी नहीं कहा जा सकता। हमारी प्राचीन जन्तु-श्रेणियों में अंडज और पिंडज दो वर्ग माने जाते हैं। ऊष्मज, स्वेदज आदि भी पृथक वर्ग बनाते कहे जाते हैं, परन्तु उन वर्गों की उपेक्षा कर हम दो विशेष नामों को ही लेते हैं जो वैज्ञानिक श्रेणी-विभाग के निकट के नाम हैं। हम यहाँ पर इनकी भी विशेष मीमांसा न कर यही कह देना चाहते हैं कि आधुनिक जन्तु-श्रेणी विभाजन में अंडज और पिंडज दो श्रेणी विभाग स्पष्ट रूप से किए नहीं मिल सकते परन्तु विज्ञान के विशेषज्ञों ने जो भेद-प्रभेद किए हैं उनमें एक को पिंडज का लगभग समानार्थक कहा जा सकता है। पिंडज का अर्थ पिंड या सदेह रूप में माता की कोख से जन्म धारण करना है। स्तनपायी जन्तु सदेह रूप में ही प्रायः जन्म धारण करते हैं अतएव इन्हें पिंडज कहा जा सकता है।

सृष्टि में जो अनेक विचित्रताएँ हैं उनका जैसे-जैसे अध्ययन किया जाता है, हमारे कौतूहल की सीमा बढ़ती ही जाती है। जन्तु जगत के सम्बन्ध में भी ऐसी ही बात कही जा सकती है। वैज्ञानिक कुछ मूलभूत आधारों पर जन्तुओं के भेद-प्रभेद करते हैं। उनके बनाए विभाजनों में अन्य शोधकों को भूल ज्ञात होती है। जन्तुओं के श्रेणी-विभाजन के कुछ अन्य मूलभूत आधार मिल

जाते हैं अतएव पूर्व श्रेणी-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन करना पड़ जाता है अथवा छोटे भेद-प्रभेदों में कुछ थोड़ा बहुत परिवर्तन कर लेना ही यथेष्ट होता है। इन परिस्थितियों में एक अटल विभाजन नहीं पाया जा सकता। फिर भी विद्वानों के अधिकांश मत के विभाजन मान्यता पाकर अधिक समय तक प्रचलित रहते हैं। यहाँ पर हम स्तनपायी जन्तुओं का श्रेणी-विभाजन तथा जन्तु-जगत में उनके पूर्ण वर्ग के आपेक्षिक स्थान की कुछ चर्चा करेंगे।

जन्तु जगत में कीड़े-मकोड़े या बहुसंख्यक रूप के छोटे-मोटे आकार के जो जन्तु दिखाई पड़ते हैं उनके विभाग जो होंगे उनकी यहाँ पर चर्चा करना युक्तिसंगत नहीं है। उनको अस्थिकंकाल तथा पृष्ठवंश विहीन शरीर रखने से अपृष्ठवंशी कहा जाता है। जब कोई कंकाल या हड्डी का ढाँचा न हो तो शरीर के अन्य तन्तुओं, रक्त मांस आदि का अधिक वृद्धि कर एकत्र रहने का अवसर नहीं हो सकता। अतएव उनका बहुत बड़ा आकार नहीं हो पाता। वास्तव में वे हीन कोटि के ही जन्तु होते हैं। यदि वास्तव में बड़े आकार का शरीर रखना है तो पृष्ठवंश या रीढ़ की हड्डी रखना ही होगा जो शरीर के अस्थिकंकाल को सँभाल सकने के लिए आधार-स्तंभ का काम करती है। अतएव ऐसी व्यवस्था रखने वाले जन्तु पृष्ठवंशी कहलाते हैं। उनके शरीर में पृष्ठवंश या रीढ़ की हड्डी की रचना कशेरुका या छोटे-छोटे अस्थिखंडों से हुई रहती है जिनमें पारस्परिक जोड़ होता है, परन्तु उन सब में ऐसा छिद्र भी होता है जो मस्तिष्क से लेकर अन्तिम कशेरुका तक लम्बी नली रूप में रहता है। उसी नली में मेरु या सुषुम्ना-दंड होता है जिसमें शाखा समान स्नायु निकलकर शरीर के सब अङ्गों तक फैलते हैं और मस्तिष्क तथा अंगों के मध्य संवाद या संवेदना वहन करते रहते हैं। अतएव पृष्ठवंशी या रीढ़ वाले जन्तुओं को मेरुमान या सुषुम्ना-

दंडीय कहने की इच्छा हो सकती है। इसमें केवल इतनी आपत्ति है कि कुछ ऐसे जन्तु भी पाए जाते हैं जो कंकाल तथा पृष्ठवंश का प्रबंध न रखने पर भी संवाद-वाहिनी मेरु का प्रबन्ध रखते हैं, इस कारण जन्तुविज्ञान-शास्त्री एक विशेष विभाजन का "मेरुमान" नाम देते हैं। मेरुमान या मेरुमन्त जन्तुओं में ही पृष्ठवंशी प्रमुख स्थान रखते हैं। किन्तु मेरुमन्तों की अधिक चर्चा न कर हम आगे के पृष्ठों में पृष्ठवंशी जन्तुओं के ही कुछ स्थूल विभागों का नाम लेंगे।

पृष्ठवंशी जन्तुओं के विविध रूप हैं। कोई जल में रहता है तो कोई स्थल या आकाशचारी होता है। परंतु जलचारी, स्थलचारी या गगनचारी कहने से उनका विज्ञानसम्मत विभाजन नहीं ज्ञात हो सकता। यों तो आप यह भी कह सकते हैं कि पक्षी आकाश में उड़ सकने पर भी बसेरा लेने या सन्तानोत्पादन के लिए भूमि का ही सहारा लेते हैं इसलिए अन्य स्थलचारी जन्तुओं के साथ इन्हें भी स्थलजीवी कहना चाहिए तथा जल में जीवन व्यतीत करते रहने वाले जन्तुओं को जलजीवी पृष्ठवंशी कहना चाहिए। परन्तु विज्ञान ने पृष्ठवंशियों के विभाजन का कुछ अधिक युक्तिसंगत आधार रखा है। जो जन्तु गलफड़ों से श्वास लेकर जल में रह सकते हैं वे मत्स्यवर्ग कहलाते हैं। मंडूक की भाँति कुछ जन्तु शैशव काल में या अस्थायी रूप से ही गलफड़े रखते हैं, किंतु कालांतर में जल के अन्दर रहने की वृत्ति छोड़कर खुली वायु में रह सकने का उपक्रम कर लेते हैं। उन्हें उभयजीवी पृष्ठवंशी वर्ग कहा जाता है। इस वर्ग के जन्तु खुली वायु में रह सकने के लिए फुफ्फुस का निर्माण अपने शरीर में कर लेते हैं। किन्तु ऐसे भी उभयजीवी पृष्ठवंशी होते हैं जो गलफड़े का ही स्थायी प्रबन्ध रखते हैं और जल में रहते हैं या गलफड़ों का उनमें सर्वथा अभाव रहता है और

आजीवन फेफड़े की ही व्यवस्था रखते हैं। इनमें जोड़ों युक्त पैर होते हैं जिनमें प्रत्येक पाँच अंगुलियों युक्त होता है। छिपकली, सर्प, गिरगिट आदि सरीसृप वर्ग के हैं जिनके शरीर पर छिछड़े रूप में बाहरी कठोर शुष्क आवरण होता है। ये स्थल पर अंडे देकर संतान वृद्धि करते हैं। इन सबसे विशेषता पक्षियों में पाई जाती है जिनके शरीर का बाहरी आवरण छिछड़े या शल्क के स्थान पर ऐसे रूप का होता है जिसे पर या पतत्र कहा जाता है। उनका परों युक्त शरीर पृष्ठवंशी जन्तुओं में उनका रूप स्पष्ट पृथक प्रकट करता है किन्तु उनसे भी अधिक स्पष्ट रूप में विभिन्नता प्रकट करने वाला स्तनपायी वर्ग होता है जिसके शरीर पर प्राय: रोममय त्वचा होती है और दुग्ध-ग्रंथियों का प्रबन्ध होता है।

इन साधारण पृष्ठवंशी जन्तु-वर्गों का ही विशेष अध्ययन कर जन्तु-विज्ञान-वेत्ताओं ने ज्ञात किया कि जलजीवी कहे जाने वाले जन्तुओं में एक ऐसे रूप के ईल या मत्स्य होते हैं जिनके मुख में जबड़े नहीं होते, केवल गोले रूप का एक छिद्र ही मुख का स्थान ग्रहण करता है। उस वर्तुलाकार मुख-छिद्र से वे चूसकर ही आहार ग्रहण करते हैं। अन्य सभी पृष्ठवंशियों में दो जबड़ों वाले मुख होते हैं अतएव उन जंतुओं को एक पृथक नाम देकर वर्तुलाकार-मुखी पृष्ठवंशी वर्ग कहा जाता है।

जब हम स्तनपायी वर्ग के पुन: भेदों की ओर ध्यान देते हैं तो एक भारी आश्चर्य की बात उसके निम्नतम भेद में मिलती है। वर्ग के भेदों को गण नाम दिया जाता है। वैज्ञानिक भाषा में वर्ग को क्लास और उसके भेद गण को आर्डर कहते हैं। इसके भी पुन: प्रभेद वंश रूपों में होते हैं। उसे फेमिली कहते हैं। वंश के भी छोटे भेद को प्रजाति (जीनस) और प्रजाति के भी छोटे विभाग या भेद

को जाति (स्पीशी) कहते हैं। अन्तिम रूप में जाति के भी उपभेद हो सकते हैं जो सब-स्पीशी या उपजाति कहलाते हैं।

जाति की स्पष्ट परिभाषा यह कही जा सकती है कि उसके जन्तु परस्पर सन्तानोत्पादन के लिए जोड़े बन सकते या सहयोग स्थापित कर सकते हैं। उनमें कुछ रंग-रूप का गौण अन्तर होने से ही उप-जातियाँ पाई जाती हैं। जातियों में यह समान गुण एक प्रमुख कसौटी ही है किन्तु इसके अनेक अपवाद भी अवश्य पाए जाते हैं। उन अपवादों के होने पर भी इन जन्तुभेदों को विज्ञान-जगत स्वीकार करता है।

स्तनपायी वर्ग की सभी जातियाँ माता के दूध से शिशु का पोषण करने की व्यवस्था रखती हैं, परन्तु कुछ जातियों में हम एक विशेषता यह भी देखते हैं कि वे अण्डे देती हैं। यह देखकर घोर आश्चर्य होता है कि एक ओर तो ये जन्तु अण्डे देकर अंडजों का अनुकरण करते हैं, दूसरी ओर अण्डे से उत्पन्न होते ही शिशु को दूध पिलाकर पोषण का उपक्रम करते हैं। यह सृष्टि का विचित्र ही विधान है। कदाचित किसी भौगर्भिक पूर्व काल में केवल अंडज सृष्टि की ही व्यवस्था थी। जब दुग्ध पान कराकर माता ने शिशु के पोषण का विधान सृष्टि से पहले-पहल प्राप्त किया तो उस प्रारम्भिक क्रम में इसी रूप की दुग्धदायी जाति उत्पन्न हुई जिसका जन्म सृष्टि के अन्य सभी जन्तुओं के सन्तानोत्पादन विधान के अनुकूल अंडज रूप का ही था। कालान्तर में अन्य जातियों के विकास होते जाने पर माता की कोख से सदेह रूप में उत्पन्न शिशु का विधान प्रचारित हुआ परन्तु उस प्रारम्भिक अवस्था का स्मरण दिलाने के लिए आज के जीवित दुग्धपायी जन्तुओं में आज भी अंडज प्रथा को जारी रखने वाले जन्तु दिखाई पड़ते हैं जिन्हें हम चाहें तो अंडज-पिंडज कह सकत हैं। ऐसे जन्तुओं में आस्ट्रेलिया

के बत्तखमुखी या हंसकमुखी (डक-बिल) जंतु होते हैं। यह बात अवश्य है कि इन जन्तुओं की मादा में दुग्ध-ग्रन्थियों से दूध निकल कर स्तन में पहुँचने की व्यवस्था नहीं होती। स्तन रूप की कोई वस्तु होती ही नहीं। केवल रोमों के क्षुद्र पिचकन स्थल से दुग्ध-ग्रन्थियों का दूध स्वतः स्रवित होता रहता है जिसे शिशु पान कर लेते हैं। शिशु प्रारम्भ काल में उन ग्रन्थियों के क्षेत्र में माता के उदर से चिपके रहते हैं।

स्तनपायी जन्तुओं में एक और भी विशेषता यह होती है कि शरीर में स्थिर तापमान का रक्त प्रवाहित रहता है। अतः उन्हें स्थिर तापमानी कहा जाता है। जल के अंदर जीवनयापन करने वाले तिमि (ह्वेल), सील आदि जन्तु स्तनपायी होते हैं अतएव वे उक्त विधान के कारण स्थिर तापमानी ही होते हैं। इसी प्रकार वायु में विहरण करने वाले चमगीदड़ भी दुग्धपायी होते हैं। इन विविध रूप के जन्तु माता के दूध का पान कर शिशुकाल में पोषित होने के कारण स्तनपायी वर्ग के माने जाते हैं।

स्तनपायी जन्तुओं के शरीर की त्वचा पर न्यून या अधिक रोम या बाल का होना उनकी विशेषता अवश्य है किंतु थोड़े से अपवाद हमें अन्य पृष्ठवंशी जंतुओं में शरीर पर कहीं रोम उत्पन्न करने में दिखाई पड़ सकते हैं। पक्षियों के हनु या चंचु के आधार स्थल के निकट कुछ रोम उत्पन्न दिखाई पड़ते हैं। एक जाति के मंडूक अफ्रीका में पाए जाते हैं जिनके पार्श्व भाग में रोमवत् त्वचा की झालर होती है। किन्तु इन अपवादों को छोड़ दें तो हमें स्तनपायी जन्तुओं में तिमि (ह्वेल) तक के शरीर में कुछ रोम (बाल) दिखाई पड़ते हैं। शिंशुमार (सूंस) के मुख में मूँछ की रचना केवल दो बालों से होती है।

इस विविध रूप के स्तनपायी जन्तुओं के आकार में महान्

विषमता पाई जाती है। छोटे से छोटा स्तनपायी जन्तु जहाँ चवन्नी भर तौल की बौना छछून्दर होती है, वहाँ संसार के प्रत्येक युगों के सभी जन्तुओं से वृहद् आकार रखने वाला नील तिमि सवा सौ टन (लगभग साढ़े तीन सहस्र मन) का हो सकता है। तिमि के इतने वृहद् रूप का अनुमान हम इसी से कर सकते हैं कि उसके शरीर का तोल दस करोड़ क्षुद्रतम स्तनपायी, बौना छछून्दर के तोल के बराबर होता है।

संसार में स्तनपायी जन्तुओं की लगभग १०,००० जातियाँ पाई जाती हैं। उनको प्रायः सारे संसार में फैला कहा जा सकता है। ध्रुवीय प्रदेशों तक भी वे विद्यमान ही नहीं पाए जाते बल्कि कुछ तो कभी-कभी हिमखंड के निम्न तल में भी रह सकते हैं। उनका सभी सागरों तथा महासागरों में प्रसार है। निर्जल मरुप्रदेश भी उनसे शून्य नहीं। सघन अरण्यों, विरल झाड़ियों के प्रदेशों, बागों, खेतों, ग्रामों नगरों आदि में सर्वत्र ही उनका प्रसार पाया जाता है। नदी, तालाब, वृक्ष, गिरि गुहाएँ, दलदल या घास-विहीन निर्जन शीत प्रदेशों में भी वे देखे जा सकते हैं। यही नहीं, जहाँ कहीं भी मनुष्य की दृष्टि जा सकती है, उसे स्तनपायी जन्तु दिखाई ही नहीं पड़ सकते, बल्कि स्वयं मनुष्य भी अपनी गणना स्तनपायी जन्तुओं में ही पाता है।

हमारे इस कथन का यह अभिप्राय कदापि नहीं कि सभी प्रकार के स्तनपायी सभी स्थलों में पाए जाते हैं। बल्कि यह अभिप्राय ही समझना चाहिए कि प्रत्येक स्थल में उस स्थल के जलवायु के अनुकूल कोई न कोई स्तनपायी दिखाई पड़ते हैं। किन्तु एक वातावरण या स्थान में रहने वाले जंतु को अन्य वातावरणों में भी रहने में समर्थ होना आवश्यक नहीं। यह बात दूसरी है कि एक ही स्तनपायी जन्तु अनेक स्थानों या वातावरणों में रह सकता हो।

यदि मनुष्य की बात लेते हैं तो वह तो अपनी रक्षा तथा सुविधा के लिए कृत्रिम व्यवस्था कर कहीं भी पहुँच सकता तथा रहता पाया जा सकता है। अन्य स्तनपायी जन्तु इतने अधिक कुशल तथा साधनसम्पन्न न होने से सारे संसार को अपना निवास-क्षेत्र कह सकने में असमर्थ ही होते हैं।

प्रस्तरावशेषों के आधार पर प्राचीन युगों के जन्तुओं का रूप तथा आकार-प्रकार का अध्ययन करने वाले विद्वानों का मत है कि पहले जलखंडों में ही जीव का उदय हुआ होगा। उनसे उन्नत रूप धारण करने पर उभयजीवी बने होंगे जिनमें हम मंडूक की गणना कर सकते हैं। सरीसृपों ने कालान्तर में स्थल पर ही सन्तानोत्पादन कर अपना वंश चलाया होगा। इनके पश्चात् दुग्धपायी जन्तु उत्पन्न हो सके होंगे। दुग्धपायी जन्तु पहले बहुत ही गौण तथा अज्ञात रूप में अपना कहीं उदय कर स्थलचारी जीवन व्यतीत करते दिखाई पड़ने लगे होंगे किन्तु उनके भेद-प्रभेदों ने विविध रूपों में इतनी वृद्धि की कि धरती उनसे पट गई। अधिकांश स्तन-पायी भूजीवी बने, परन्तु कुछ ने विवर में निवास करने की वृत्ति धारण की, कुछ वृक्षजीवी बन गए। कुछ जलजीवी भी बने। कुछ उभयजीवी बनकर रहने लगे जिनमें सील का नाम लिया जा सकता है, किन्तु कुछ पूर्णतः जलजीवी बने। उनमें तिमि का प्रमुख नाम है। आकाशगामी दुग्धपायी का रूप चमगीदड़ रूप में दिखाई पड़ा।

सरीसृपों से जो काम नहीं बन सकता वह दुग्धपायियों ने कर दिखाया। भूमध्य रेखा से लेकर ध्रुव तक फैलकर रहने का परि-णाम दुग्धपायियों के विशेष गुणों के कारण सम्भव हो सका। यह ध्यान में रखने की बात है कि शीततर अक्षांशों के स्थल में वृहदाकार स्तनपायी ही सुविधा प्राप्त करते हैं किन्तु उष्णतर क्षेत्रों

में वृहदाकार सरीसृपों को अधिक सुविधा होती है। इन दोनों की यह सुविधा शरीर की मात्रा और बाह्य तल के क्षेत्रफल के अपेक्षिक अनुपात के कारण प्राप्त होती है। शीत जलवायु में आन्तरिक उष्णता रक्षित रखने की आवश्यकता से बड़े दुग्धपायी जंतु को इस कारण सुविधा प्राप्त होती है कि उसके शरीर के बाह्य तल का क्षेत्रफल अपेक्षाकृत न्यून होता है। सरीसृप को सारी उष्णता बाहर से ही प्राप्त होनी चाहिए। न्यूनतर आकार के जन्तु का बाह्य तल अपेक्षाकृत अधिक होता है। यदि बाह्य उष्णता इतनी न्यून है कि पोषण के लिए आवश्यक उष्णता नहीं प्राप्त की जा सकती। तो सरीसृप के लिए दो ही मार्ग होते हैं, या तो वह शीतकालीन दीर्घनिद्रा में मूर्छित पड़ा रहे या मृत्यु को प्राप्त हो। कुछ स्तनपायी भी शीतकालीन दीर्घनिद्रा में लिप्त होते हैं किन्तु यह कहना अनुचित नहीं हो सकता कि कदाचित शीत ऋतु व्यतीत कर ले जाने का उनका यह सुगम तथा आलसी ढङ्ग ही होता है। अधिक सक्रिय स्तनपायी अपनी आंतरिक वह्नि को प्रज्वलित ही रखते हैं तथा ध्रुवीय शीत में भी अपनी पूर्ण क्रियाशीलता संचालित रखते हैं।

बाह्य दबाव में समुद्रतल से लेकर पर्वतों की ऊँचाई तक रहने के अभ्यस्त स्तनपायी पाए जाते हैं। तिमि (ह्वेल) तो समुद्र की एक मील गहराई तक जा सकने में समर्थ होते हैं।

स्तनपायियों का भोजन भी विविध रूप का होता है। बहुत से तो शाकाहारी होते हैं। प्रत्येक किसी एक प्रकार या वनस्पति के विशेष भाग का प्रेमी होता है। घास, दाने, पौधे, पत्तियाँ, जड़, वल्कल, फल-फूल आदि को वे ग्रहण करते हैं। कुछ चींटी-चींटे और कीट का आहार करते हैं। कुछ अपने सहयोगी अन्य पृष्ठवंशी जन्तुओं को ही आहार बनाते हैं। इन आहारों का प्रकार उन

जन्तुओं की विशेष रूप की दन्तावली तथा पोषण-संस्थान के अनुरूप होता है ।

स्तनपायी जन्तु अपने पैरों का उपयोग विविध रूपों में करते हैं । वे पैरों से चलते, दौड़ते, उचकते, छलांग मारते, पर्वतों तथा वृक्षों पर आरोहण करते तथा एक वृक्ष या शाखा से दूसरे वृक्ष या शाखा पर कुदान की छतरीनुमा उड़ान भरते, अगले पैरों द्वारा शाखाओं से लटककर चलते, पिछले पैरों पर खड़े होकर चलते तथा पैर के तलवे भूतल पर चपटे रूप में रखकर चलते या केवल अँगुलियों के बल खड़े होकर चलते हैं । कुछ अगले पैरों से भूमि खोद कर विवरों में रहते हैं, या जड़ों को खोद निकाल लेते हैं । गिलहरी तो अगले पैर के पञ्जों से फल पकड़ने तथा मुँह तक पहुँचाने का दृश्य उपस्थित करती है । कुछ द्विपदों को छुरी-कांटे से आहार की विविध व्यवस्था करते देखते हैं । कुछ दुग्धपायी तैरते, डुबकी लगाते या उड़ते हैं । उनकी गति मन्दतम रूप में वृक्षजीवी स्लाथ में पाई जाती है जो भूमि पर कछुए समान धीमी गति से ही रेंग सकता है, उसके विपक्ष घोड़े, शिकारी कुत्ते, हरिण तथा चीते में अद्भुत वेग की गति पाई जाती है । एशिया तथा अफ्रिका में एक बिल्ली के समान ऐसा मांसाहारी जन्तु होता है जो हरिण को भी दौड़ में पीछा दिखा सकता है ।

नीचे कुछ जानवरों की चाल दी जाती है :—

नाम	प्रति घण्टे चाल	नाम	प्रति घण्टे चाल
चीता	७० मील	एल्क	४५ "
मंगोलियन गज़ेली	६० "	घुड़दौड़ का घोड़ा	४३ "
प्रोंगबक	५० "	एशियाई जंगली गधा	४० "
मृग	४५ "	शिकारी कुत्ता (ग्रे हाऊंड)	३७ "
जैक शश	४५ "	मंगोलियन भेड़िया	३६ "

नाम	प्रति घण्टे चाल	नाम	प्रति घण्टे चाल
शशक	३५ "	लोमड़ी	२० मील
कंगारू	३० "	विविध कुत्ते	२० "
श्वेतपुच्छ मृग	३० "	आदमी (एक मील दौड़)	१५ "
महिष	३० "	सूअर	११ "
हरिण	२५ "	साही	२ "
शश	२५ "	स्लाथ	$\frac{1}{2}$ "
भगाया जानेवाला हाथी	२४$\frac{1}{2}$ "	कछुआ	$\frac{1}{4}$ "
आदमी (चौथाई मील दौड़)	२२"		



स्तनिन जन्तुओं की उत्पत्ति

मंडूक के समकक्षीय जन्तु जल तथा स्थल के मध्य रह सकने से उभयचारी कहलाते हैं। उन्मुक्त वायु में श्वास लेने के लिए उनमें फेफड़े बने होते हैं, भूमि पर चल सकने या उचक सकने के लिए चार पाद होते हैं, उनका कुछ अनुकरण-सा कर कुछ मत्स्य भी खुली वायु में श्वास ले सकने के लिए फुफ्फुस की व्यवस्था रखते हैं। किन्तु फेफड़े तथा पैरों की व्यवस्था होने पर उभयचारी जन्तु जल तथा आर्द्रता की उपेक्षा नहीं कर सकते। उनके अंडे पानी में ही दिये जाते हैं। पानी में ही अण्डों से शिशु उत्पन्न होकर पोषित होते हैं। मंडूकों की कोमल श्लेष्मिक त्वचा भी उन्हें विशेषतया आर्द्र स्थलों में रहने को बाध्य करती है, अतएव जलखंड से अधिक दूर के स्थलों तक वे नहीं रह सकते। नदी, तालाबों के निकटवर्ती स्थलों तक ही उनका निवास सीमित रहता है। सरीसृपों में बाह्य श्लेष्मा के स्थान पर शुष्क, अभेद्य शरीर-आच्छादक त्वचा होती है अतएव वे शुष्क वायु का सामना कर सकते हैं। सरीसृपों के अंडे स्थलखंड पर ही दिये जाते तथा पोषित होते हैं। उनमें कुछ झिल्लियाँ उत्पन्न होती हैं जो उनके पोषण, श्वसन तथा रक्षा का प्रबन्ध करती हैं। अतएव उनसे जो शिशु उत्पन्न होते हैं वे यथेष्ट विकसित रहते हैं। इस प्रकार जल के आश्रय की बहुत कुछ दुर्बलता दूर कर सरीसृप दूर-दूर के स्थानों तक प्रसरित हो सकते थे। अतएव उनका स्थल-खंडों पर प्राधान्य स्थापित हो सका।

बाद में कुछ जलखण्ड में लौटकर जीवन व्यतीत करने के भी अभ्यस्त दिखाई पड़े तथा कुछ आकाशगामी बने। पक्षियों ने अपनी त्वचा को पर (पतत्र) रूप में परिवर्तित करने में सफलता प्राप्त की। उनके अग्रपादों ने पंख रूप धारण किया। आन्तरिक तापमान को यथेष्ट उच्च कर लिया। इस प्रकार उन्होंने वह पूर्णता प्राप्त की जो उन्हें आकाश का भ्रमण कर सकने योग्य जीवन व्यतीत करने में समर्थ बना सकी।

जलक्षेत्र में रहने वाले मत्स्यों, धरती पर विचरण करने वाले सरीसृपों तथा व्योम में विहरण करने वाले पक्षियों का जीवन अवश्य स्पृहणीय रहा होगा। इन रूपों में हम पृष्ठवंशी जन्तुओं को सृष्टि का सफल दृश्य प्रतिभासित करता-सा अनुमान कर सकते हैं, परन्तु विकासोन्मुखी शक्तियों के हथकंडे ज्ञात या अज्ञात रूप में किन्हीं दिशाओं में प्रवृत्त होकर ही कदाचित जन्तु-जगत में काया-पलट करने का अवसर ला सके। सरीसृपों का पक्ष ही कदाचित धरा पर अधिक प्रसारित था, अतएव उसे ही क्षीण करने की कदा-चित प्रकृति को आवश्यकता हुई हो, किन्तु कारण कुछ भी हो, उनमें कोई भारी दुर्बलता निहित थी जो उन्हें धरती पर एक प्रमुख रूप धारण किये रख सकने में समर्थ न बना सकी। आज से सात करोड़ वर्षों पूर्व से लेकर बीस-बाईस करोड़ वर्षों पूर्व तक पृथ्वी के इतिहास में मध्य-जन्तुक युग का प्रसार था। उस युग में प्रारम्भ में सरीसृपों का भरपूर उदय हुआ किन्तु इस युग के अवसान काल में उनकी संख्या बहुत ही क्षीण हो सकी। इस युग को इस कारण सरीसृपों का युग भी कहते हैं। उस युग के अवसान ने सरीसृपों का भी अध:पतन इतना अधिक देखा कि आज उनका बहुत क्षीण रूप ही जीवित रह सका है। भौगर्भिक प्रमाणों से यह स्पष्ट ज्ञात नहीं होता कि सरीसृपों के अवसान के क्या कारण थे। हो सकता

है भूमि के प्रसारक्षेत्र में घोर परिवर्तन हुए हों, तापमान गिर गया हो, वायु में आर्द्रता न्यून हो गई हो, हरियाली का ही रूप ऐसा बदला हो जिससे शाकाहारी सरीसृपों को भारी असुविधा हुई हो और बाद में उसका प्रभाव ही मांसाहारियों पर भी पड़ा हो। बहुत अधिक संतानवृद्धि अत्यधिक संख्यावृद्धि या अकाल के कारण मांसाहारी जन्तुओं को एक दूसरे को मार खाने की आवश्यकता आ पड़ी हो। कुछ ऐसे ही कारणों के संवट्ट ने ही तत्कालीन जन्तु-जगत का पलड़ा अत्यधिक विषम करने के लिए विवश किया होगा और सरीसृप विनाश को प्राप्त हुए होंगे।

मध्यजंतुक युग में अपेक्षाकृत अधिक उष्ण वातारण था। विश्वास है कि प्राचीन सरीसृप बाह्य वातावरण से प्रभावित होकर अपने शरीर का तापमान परिवर्तित करने वाले जंतु थे। ऐसे रूप के जन्तुओं को शीतरक्तीय कहा जाता है, परन्तु शीतरक्तीय शब्द भ्रामक और अशुद्ध है। यथार्थ में मत्स्य, सरीसृप आदि का रक्त शीत नहीं होता, बल्कि कोई स्थिर तापमान नहीं होता। बाह्य वातावरण का तापमान न्यून या अधिक होने पर उनके शरीर का तापमान भी न्यून या अधिक हो जाता है, अतएव उनको अस्थिर तापमानी जंतु कह सकते हैं परन्तु पक्षी, स्तनिन आदि को स्थिर तापमानी जंतु कहा जाना चाहिये क्योंकि उनके शरीर का तापमान किसी आन्तरिक अव्यवस्था के न उपस्थित होने पर साधारणतया प्रत्येक ऋतु में समान ही रहता है। उनको उष्णरक्तीय कहने की अपेक्षा स्थिरतापमानी जंतु कहना अधिक उचित है। शब्दों की भ्रामकता की बात तो यह हुई परन्तु शीतरक्तीय तथा उष्णरक्तीय प्रचलित से हो गए हैं। जंतुओं का विभाजन होने पर उनसे अभि-प्राय ठीक रूप का ही समझ लिया जाता है। जो 'शीतरक्तीय' जन्तु हैं उनमें पाचन क्रिया मन्द होती है। पक्षियों का तापमान मनुष्य

से अधिक होने पर उनकी पाचनक्रिया बहुत ही तीव्र होती है। शीतरक्तीय जन्तुओं में अपेक्षाकृत न्यून तापमान उत्पन्न होता है। सरीसृपों की त्वचा इस क्षीण मात्रा के तापमान को भी रक्षित रखने में समर्थ नहीं होती। पोषण के लिए शरीर के अन्तर्गत यथेष्ट तापमान होना आवश्यक है अतएव सरीसृप को अपने पोषण के लिए बाह्य तापमान पर ही अवलम्बित रहना पड़ सकता है। फलत: उष्ण देशों में ही सरीसृप वृद्धि पाते हैं। आज दीर्घकाय सरीसृप घड़ियाल, अजगर केवल उष्ण तथा अर्द्ध उष्ण देशों में ही पाये जाते हैं। शीततर कटिबन्धों में क्षुद्रकाय तथा अल्पसंख्यक सरीसृप ही होते हैं। ध्रुवीय प्रदेश में तो सरीसृपों का सर्वथा ही अभाव है।

आकार तथा तापमान में एक नियमबद्ध सम्बन्ध होता है। यदि एक रूप में रचित शरीर के विभिन्न आकार हों तो उसके बाह्य-तल तथा शरीर का घनफल एक निश्चित अनुपात में परिवर्तित मिलेंगे। बड़े सरीसृप में छोटे सरीसृप की अपेक्षा न्यून बाह्यतल ही होगा। सरीसृप के तल पर तापमान या तो शोषित हो सकता है या लुप्त हो सकता है। यह बात उसके शरीर के आन्तरिक तथा वातावरण के तापमान की आपेक्षिक मात्रा पर निर्भर करती है। यदि शीत रात्रि के पश्चात् एक छ: इञ्च लम्बी छिपकली तथा एक बारह फुट लम्बा घड़ियाल प्रात: के अर्द्ध उष्ण धूप में पड़े हों तो घड़ियाल की अपेक्षा छिपकली का शरीर बहुत शीघ्र गर्म हो उठेगा। संसार के विस्तृत उष्ण भूखंडों ने ही सरीसृपों का अभ्युदय काल उपस्थित किया था। यदि मध्यजन्तुक युग के अन्त तक सरीसृपों का उदय न हो सका होता तो संसार में कभी सरीसृपों का युग ही न आया होता।

मध्यजन्तुक युग के बाद भौगर्भिक इतिहास में नव-जन्तुक युग का उदय आज से नौ करोड़ वर्षों पूर्व हुआ। इस नवजन्तुक

युग का अपेक्षाकृत न्यून तापमान केवल सीमित उष्ण कटिबन्ध में ऐसे सरीसृपों को जीवित रहने का अवसर दे सका जो मध्यजन्तुक युग की संहारलीला से किसी प्रकार अपनी रक्षा कर बचे रह सके थे। एक ओर जहाँ महासरीसृपों का लोप हो रहा था, वहाँ दूसरी ओर थोड़े दिनों पूर्व ही जन्तु-जगत में अवतरित पक्षियों ने अपनी वृद्धि प्रारम्भ की थी। उन्होंने विभिन्न वातावरणों के अनुकूल अपने को बना लिया। इसका एकमात्र कारण यही था कि उन्होंने अपने को स्थिर तापमानी जन्तु बना लिया था। जिस भूखंड पर पहले सरीसृपों ने अपना आधिपत्य स्थापित किया था, उसे पृष्ठवंशियों के स्तनपायी वर्ग द्वारा अपेक्षाकृत शीत होने वाले युग में अपना निवास बनाना था तो उष्णरक्तता अर्थात् स्थिरतापमान-रक्तता का गुण रखना अनिवार्य था तथा सन्तानोत्पादन में भी ऐसे परिष्कार की आवश्यकता थी कि नवजात शिशु ऋतु-वैषम्य के सम्मुख जीवन-रक्षा कर सकने में समर्थ हों।

पक्षियों में ऐसे कुछ उपक्रम थे। शरीर का तापमान उच्च था जो स्थिर रह सकता था किन्तु वे आकाश में उड़ने के जीवन के लिए इतने अधिक विशेष रूप का शरीर धारण कर सके थे कि उनका स्थलजीवी जीवन कठिन बात थी। अपवाद स्वरूप थोड़े से पक्षी भूमिजीवी हमें दिखाई पड़ते हैं जो उड़ान क्रिया से शून्य होते हैं किन्तु यथेष्ट शरीर-परिवर्तन के बिना सफल भूजीवी जन्तु का जीवन असम्भव था। पृष्ठवंशियों के इतिहास में इसी समय स्तनिन जन्तु वर्ग का उदय हुआ।

सरीसृपों की भांति स्तनिन जन्तु अधिकांशतः भूजीवी होते हैं। अतएव चौपाए स्तनिन की शरीर-रचना सरीसृप से बहुत अधिक विभिन्न होना आवश्यक नहीं। पक्षियों को वायु में उड़ने के लिए पृष्ठवंशियों की शरीर-रचना की अपेक्षा बहुत आमूल परिवर्तन की

आवश्यकता पड़ी किन्तु भूजीवी होने के कारण स्तनिन जन्तुओं के शरीर की रचना में उतने भारी अन्तर की आवश्यकता नहीं थी। विभिन्न रूप के छोटे-मोटे गौण कङ्कालीय परिवर्तन अवश्य हुए। विशेष रूप से उल्लेखनीय परिवर्तन उच्च तापमान के स्थिर रूप का होना कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त शरीर पर रोम (बाल), गर्भाशय से शिशु की उत्पत्ति तथा दुग्ध-ग्रंथियाँ उल्लेखनीय हैं। ये विशेषताएँ ऐसी हैं जिन्हें भौगर्भिक प्रमाण प्रस्तरावशेष रूप में प्रकट करने में असमर्थ हैं। पक्षियों के सम्बन्ध में विकास के पूर्व सोपान को प्रकट करने वाले आदि-पक्षी के भव्य प्रस्तरावशेष जैसी सुन्दर विकास-कथा सुना सकते हैं वैसा स्तनिन जन्तुओं के सम्बन्ध में कथा सुनाने योग्य कोई सुन्दर आधार नहीं। कङ्काल के स्थूल रूपों के प्रमाण प्रस्तरावशेष रूप में अवश्य मिलते हैं जो स्तनपायियों की प्राचीन कथा कहते हैं।

स्तनिन जन्तुओं की प्राचीन कथा में कङ्काल के साथ दन्तावली भी सहायता करती है। भूजीवी स्तनपायी के आधुनिक रूप में कङ्काल तो सरीसृप के कङ्काल से अनेक रूपों में विभिन्न होता है। उनमें अधिकांश विभिन्नताएँ कपाल की अस्थियों के सम्बन्ध में ही पाई जाती हैं। कपाल की अस्थियों में संख्या की अधिक कमी देखी जाती है। सरीसृप में जहाँ बहुत सी अस्थियाँ पृथक-पृथक स्पष्टतः होती है, वहाँ वे स्तनपायी के कपाल में कुछ के जुटकर एक हो जाने से थोड़ी संख्या की होती हैं। कपाल तथा पृष्ठवंश के संधि-स्थल पर अन्तिम कशेरुका (रीढ़ की स्फुट हड्डियाँ) का दो अस्थि-मुण्डों द्वारा सम्बन्ध स्तनपायी जन्तुओं की विशेषता है परन्तु पक्षियों तथा सरीसृपों में कपाल से अन्तिम कशेरुका का सम्बन्ध एक अस्थि-मुण्ड द्वारा ही पाया जाता है। आधुनिक काल के उभय-जीवी जंतुओं में भी दो अस्थि-मुंड कपाल-पृष्ठवंश के संयोजक होते

हैं किन्तु सब से प्राचीन ज्ञात उभयजीवी तथा सरीसृपों के प्रस्तराव-शेषों में केवल एक अस्थि-मुण्ड द्वारा ही कपाल-पृष्ठवंश का संयोग पाया जाता है।

स्तनिन की दन्तावली बहुत ही सुन्दर रूप का आधार है जिससे उनके विभेदों की विशेषताएँ प्रकट होती हैं। स्तनपायी को छोड़कर अन्य पृष्ठवंशियों में, बहुत थोड़े अपवादों को छोड़कर सरल रूप की ही दन्तावली होती है। अन्य किसी विशेष जाति के सभी जन्तुओं में जबड़े के प्रत्येक भाग में एक रूप के ही दाँत होते हैं। इस स्थिति को समदन्तीय कहते हैं। किन्तु अधिकांश स्तनिन जन्तुओं में दाँतों में स्थानीय रूप के अन्तर होते हैं। उसे विषम दन्तीय स्थिति कहते हैं। प्रत्येक जबड़े के सम्मुखीय भाग में पैने सिरों वाले काटने के दाँत होते हैं। उन्हें कर्तनक (कतरने वाला या काटने वाला) कहते हैं। कर्तनक दाँतों की पंक्ति के दोनों पार्श्वों में एक विशेष रूप के नोकीले दाँत होते हैं जिन्हें रदनक या कुकुरदन्ता कहते हैं। मांसाहारी में उनका विशेष विकास हुआ रहता है। प्रत्येक कुकुरदन्ता के पीछे चर्वणक (चबाने वाले) दाँतों की पंक्तियाँ होती हैं जिनमें से कुकुरदन्ता के निकट से प्रारम्भ होनेवाली दन्तमाला अग्र चर्वणक कही जा सकती है। अन्तिम सिरों की ओर की दन्तमाला चर्वणक कहलाती है। चर्वणक दाँत प्रायः भारी रूप के और आहार कुचलने या चबाने के लिए उपयुक्त होते हैं। स्तनिन जन्तुओं के अनेक भेद-प्रभेदों में इन दाँतों के प्रकार की विविधता अत्यधिक होती है तथा इनके जाति-वंश आदि विभाजन में इन दन्तावलियों के विशेष क्रमों तथा रूपों का महत्वपूर्ण भाग होता है। इन विशेष-ताओं से प्राचीन स्तनपायी जन्तुओं के प्रस्तरावशेषों की पहिचान में भारी सहायता प्राप्त होती है।

जहाँ तक प्रमुख तथ्यों का प्रश्न है, स्तनपायी जन्तुओं का

इतिहास मध्यजन्तुक युग के उत्तर खण्ड (आज से लगभग दस करोड़ वर्षों पूर्व) तक सन्तोषजनक रूप से ज्ञात कर लिया गया है। उस समय तक पक्षियों की अपेक्षा अधिक प्रस्तरावशेष प्राप्त होते हैं। मध्यजन्तुक युग की इससे पहले की शिलाओं (अठारह-बीस करोड़ वर्षों पूर्व तक) में अभी तक क्षीण रूप में तथा खंड रूप के ही स्तनिनों के प्रस्तरावशेष प्राप्त हो सके हैं किन्तु वे प्रस्तरावशेष स्तनपायी जन्तुओं के तो निस्सन्देह ही हैं। इस बात की साक्षी कपाल के अस्थि-खंडों तथा दन्तावली द्वारा प्राप्त होती है। अतएव यह सम्भव है कि स्तनपायी जन्तुओं का प्रादुर्भाव आज से अठारह करोड़ वर्षों पूर्व मध्यजन्तुक युग के ट्रयासिक काल में हुआ। सरीसृप का सर्वप्रथम प्रस्तरावशेष ट्रयासिक काल के भी पूर्व परमियन काल (आज से बाईस करोड़ वर्षों पूर्व तक) मिलता है। कालान्तर में इनका रूपान्तर होता गया अतएव कुछ स्तनिन सदृश रूप का आभास देनेवाले प्रस्तरावशेष बाद में मिलते हैं। इन्हें इसी कारण स्तनिनरूपी सरीसृप (थेरोमोरफा) नाम देते हैं। इनकी कपालास्थियों में सरीसृप से थोड़ा अन्तर पड़कर स्तनिन के ढङ्ग का रूप बना मिलता है। कुछ और परिष्कृत रूप होने पर बाद के प्रस्तरावशेषों में ऐसे रूप मिलते हैं जिनमें कपालास्थि का पृष्ठवंश से संयोजक अस्थिमुंड एक के स्थान पर दो बना होता है। स्तनिन कङ्काल का केवल एकमात्र यही प्रमाण सुलभ नहीं, अन्य अस्थियों का भी रूप है। किन्तु सरलता से समझ में आने के कारण उसका उल्लेख किया गया है। दन्तावली में भी ऐसी ही बात पाई जाती है। पहले के प्रस्तरावशेषों में विषमदन्ती रूप की थोड़ी प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है, परन्तु बाद के कङ्कालों में निस्सन्देह रूप से विषमदन्ती रूप की दन्तावली पाई जाती है। ऐसे प्रस्तरावशेषों में एक जन्तु में दो क्रम की दन्तावली होने का कुछ प्रमाण मिलता है जिसमें पहली

तो दूध के दाँत की भाँति होती थी। उसके गिर जाने पर दूसरी बार स्थायी दन्तावली निकलती। आधुनिक स्तनिन जन्तुओं का यही क्रम है, परन्तु स्तनपायी को छोड़कर अन्य पृष्ठवंशियों में दाँत अस्थायी ही होते हैं। उनके दाँत गिरने तथा पुनः उग आने की क्रिया बार-बार होती रहती है।

यह कहना कठिन है कि शुद्ध सरीसृप तथा शुद्ध स्तनपायी रूपों के मध्य के विकसित रूपों की पूर्ण शृङ्खला मिलती है किन्तु यह बात निस्सन्देह अवश्य है कि कतिपय प्राचीन सरीसृपों के प्रस्तरावशेष ऐसे प्राप्त होते हैं जो अधिकांश रूप में स्पष्ट सरीसृप हैं। परन्तु उनमें कुछ स्तनपायी जन्तु के भी निश्चित लक्षण मिलते हैं। स्तनिनरूपी सरीसृप के प्रस्तरावशेषों में सरीसृप से स्तनपायी रूप की ओर विकसित होने की शृङ्खला को कुछ क्रमागत रूप में प्रकट करने वाले प्रस्तरावशेष प्राप्त होते हैं।

परमियन काल (२२ करोड़ वर्षों पूर्व से १८ करोड़ वर्षों पूर्व तक) को कुछ लोग प्राचीन (पुरा) जन्तुक युग (पेलियोजोइक) का अन्तिम खंड कहते हैं और कुछ लोग मध्यजन्तुक युग (मेसोजोइक) का प्रथम या आदि खंड कहते हैं। इस काल में स्तनिनरूप सरीसृप (थेरोमोर्फ) पहले पहल प्रकट हुआ। परमियन काल के बाद के ट्रयासिक काल (१८ करोड़ वर्षों से १४ करोड़ वर्षों पूर्व तक) में उनकी जातियों की विभिन्नता पराकाष्ठा को पहुँच गई। उनका विस्तृत क्षेत्रों में प्रसार हो गया। उनके अवशेष अत्यधिक प्रचुर मात्रा में उत्तरी अमेरिका तथा दक्षिणी अफ्रीका में प्राप्त होते हैं किन्तु थोड़ी संख्या में वे दक्षिणी अमेरिका, योरप तथा एशिया में भी प्राप्त होते हैं। किन्तु यह जन्तु ट्रयासिक के अन्त तक विलुप्त हो गया प्रतीत होता है।

स्तनिनरूप सरीसृप (थेरोमोर्फ) के पैर स्तनिन जन्तु सदृश

थे। साधारण सरीसृप तथा उभयचारी चतुष्पद जन्तुओं के पैर अपेक्षाकृत छोटे होते हैं। वे अन्डे रूप में शरीर से बाहर की ओर फैले होते हैं तथा शरीर को भूमि के ऊपर नहीं उठाते। ट्रयासिक के प्रारम्भ में दक्षिण अफ्रीका में पाया जानेवाला सिनोगनेथस नामक जन्तु सरीसृप से स्तनिन रूप धारण करनेवाले रूपों की शृङ्खला में स्थान पाता है। वह चार फुट या उससे भी अधिक लम्बा था। इसके पैर अपेक्षाकृत लम्बे थे तथा इसके शरीर को अवश्य भूमि से ऊपर उठा सकते होंगे। थेरोमोर्फ या स्तनिनरूप सरीसृप की कपालास्थि में एक अस्थिशुन्ड पृष्ठवंश से संयोग करने के लिए होता था, परन्तु बाद में ऐसे रूप के प्रस्तरावशेष मिलते हैं जिनमें दो अस्थिशुन्ड कपालास्थि तथा पृष्ठवंश के संयोजक पाए जाते हैं। इनको थेराप्सिडा या द्विअस्थि-शुंडीय स्तनिनरूप सरीसृप कहते हैं। इसी रूप के जन्तुओं में सिनोगनेथस भी था। उभड़े रूप में फैलने के स्थान पर इसका अगला पैर स्कंधीय संधिस्थल पर पीछे की ओर नाचता। इसलिए केहुनी का जोड़ पीछे की ओर मुड़ता था। इसी प्रकार पिछले पैर के कूल्हे का जोड़ आगे की ओर नाचता। अतएव घुटने का जोड़ आगे की ओर झुकता। ऐसी व्यवस्था आधुनिक स्तनपायी जन्तुओं में पाई जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि शरीर के ठीक नीचे सहारा देने के लिए अधिक बल प्राप्त होता है तथा अनेक संधियों के प्रबन्ध से चलने तथा दौड़ सकने में सुविधा होती है।

पूर्ण सन्देहरहित स्तनपायी जन्तु के प्रस्तरावशेष दक्षिणी अफ्रीका तथा योरप में ट्रयासिक काल के उत्तरार्द्ध में प्राप्त होते हैं। वे छोटे आकार के जन्तुओं के ही नमूने हैं। कपाल तथा दन्तावली का अवलोकन करने पर वे अवश्य ही आधुनिक कृन्तक (कुतर कर खानेवाले जन्तुओं) के समान ज्ञात होते हैं। उनके कर्त्त-

नक दाँत पुष्ट तथा पैने किनारों युक्त थे। कुकुरदंते की जगह कोई दाँत नहीं था। चर्वणक (चहू या चबाने के) दाँत बड़े थे तथा उसके शीर्ष पर उनके नोकीले उभाड़ थे। यह जन्तु सारे मध्यजन्तुक युग में प्रसारित रह कर नवजन्तुक युग के प्रारम्भ तक विद्यमान था।

इन सब बातों पर दृष्टि डाल कर ज्ञात होता है कि ट्रयासिक काल (आज से १८ करोड़ वर्षों पूर्व से १४ करोड़ वर्षों पूर्व तक) में एक अपेक्षाकृत क्षुद्रकाय सरीसृप के आदिम रूप की किसी शाखा ने धीरे-धीरे स्तनिन रूपों को ग्रहण करना प्रारम्भ किया। इस काल के उत्तरार्द्ध में कुछ अज्ञात कारणों से ही स्तनिनरूपी जन्तु, जो कुछ बातों में ही स्तनपायी जन्तुओं सदृश थे, लुप्त हो गए किन्तु उनके जो समकालीन स्तनपायी जन्तुओं का बहुत कुछ रूप तथा गुण ग्रहण कर चुके थे, जीवित रह सके। उनके जीवित रह सकने का कारण उनके चल सकने का अधिक सन्तोषजनक साधन तथा उष्ण रूप या स्थिरतापीय रक्त की व्यवस्था रखना था। शरीर पर रोम की व्यवस्था से भीतरी ताप की रक्षा कर सकना एवं उत्कृष्ट ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति भी उनको जीवन-संघर्ष में जीवित रख सकने में भारी सहायक हुई। गमन की अधिक प्रबल शक्ति, शरीर का तापमान रक्षित रख कर विभिन्न तापमान के वातावरणों में पहुँच सकने की क्षमता, इन आरम्भिक स्तनिनों को उस जगत में अपना निवास प्रसारित करने में अग्रसर हुई जहाँ सरीसृपों ने भारी-भरकम शरीर बनाकर भी अपना लोप होते देखा। जिस समय उपयुक्त वातावरण के कारण सरीसृप अपना चरम उत्कर्ष-काल अनुभव कर रहे थे तथा अन्य प्रकार के पृष्ठ-वंशी जन्तु जीवन धारण किए रख सकना कठिन समझ सकते थे, सरीसृपों के उस स्वर्ण युग में भी आदिम स्तनपायी अपनी सहन शक्ति द्वारा कहीं दुबके रह कर जीवित रहे। ये स्तनपायी बहुत छोटे

आकार के ही थे। उनमें से अधिकांश एक फुट से भी कम लम्बे थे। उनका मुख्य कार्य वृहदाकार किन्तु मन्दगामी सरीसृपों की भयंकर चपेट से बचे रह सकने के लिए उनसे दूर छिपकर ही रहना था। ऐसी स्थिति में इन स्तनपायी जन्तुओं की क्षुद्रता, क्षिप्रता एवं स्फूर्ति तथा उत्कृष्टतर मस्तिष्क की व्यवस्था ने जन्तु-जगत के भावी रूप में कायापलट करने का पुष्ट बीजवपन किया। इतने गुणों से सम्पन्न होने पर भी उनको भीषण सरीसृपों के द्वारा भारी क्षति अवश्य उठानी पड़ी होगी। यही कारण है कि मध्यजन्तुक (सरीसृप युग) के स्तनपायी जन्तुओं के प्रस्तरावशेष बहुत दुर्लभ ही हैं। हमें जो भी मांसाहारी भीमकाय सरीसृप का प्रस्तरावशेष आज देखने को मिल सकता है, वह उस सुदूर भूतकाल में कितने अधिक स्तनिनों का संहारक बना होगा, इसकी कुछ कल्पना आज भी करना सम्भव है। जब इस प्रकार बहुसंख्यक स्तनिन काल के ग्रास बनते रहे तो आज उनके प्रस्तरावशेष किस प्रकार सुलभ हों।

मध्यजन्तुक युग के अन्तिम काल में परिस्थिति ने पलटा खाना प्रारम्भ किया। सरीसृप विनाश को प्राप्त होने लगे। दीर्घकाल तक सरीसृपों के अभ्युदय काल में कहीं लुक-छिपकर जीवन चला सकने का अवसर पा सकने वाले, जन्तु-जगत में हीन, उपेक्षित सा रूप रखने वाले स्तनिनों ने अपना पासा पलटते देखा। विस्तृत धरती पर एक बार पैर जमाने का अवसर भर उन्हें मिलना था कि सारी जन्तु-सृष्टि उसकी प्रधानता बर्बस स्वीकृत करने को विवश होने लगी। कालान्तर में इन सरीसृपों ने अपना शक्ति-वर्द्धन किया। आकार-प्रसार किया, जाति-प्रजाति तथा वंशों की विविधता प्राप्त की। परिणामतः नवजन्तुक युग प्रसारित हुआ जो यथार्थतः "स्तनिन युग" है। आज मनुष्य इस जन्तु वर्ग का ही प्रतिनिधि होकर इसे जन्तु-जगत में सबसे प्रमुख पद प्रदान कर रहा है।

स्तनपोषियों का श्रेणी-विभाजन

अण्डजस्तनिन

जन्तुओं के कुछ लक्षणों में अन्य लक्षणों की अपेक्षा अधिक द्रुतगति से विकासगत परिवर्तन होता है। जन्तुओं के अधिक प्राचीन वंशानुगत सम्बन्धों को जानने के लिए ऐसे प्रमुख लक्षणों पर ध्यान देना उचित है जो स्थिर से जान पड़ें। जनन-विधि स्थिर लक्षण है। आज के अधिकांश स्थलजीवी उभयजीवी जन्तु, अधिक असुविधा होने पर भी अपने वंश की प्राचीन जलजीवी पीढ़ियों की सन्तानोत्पादन विधि का अनुसरण करते हैं। उभयजीवियों के शरीर का ऐसा विकास तो हो गया है कि स्थल पर जीवनयापन कर सकें परन्तु उनके अण्डे आज भी पूर्वजों की भाँति जल में ही दिये जाते हैं। इसी प्रकार जल में जीवन व्यतीत करने वाले सरीसृपों जल में रहने के सर्वथा उपयुक्त शरीर बनाये होते हैं, परन्तु उनके अण्डों को स्थल तथा वायु का स्थान ही आवश्यक होता है। यदि स्तनिनों के आधुनिक जनन-साधनों पर विचार किया जाय तो उनमें तीन स्पष्ट वर्ग दिखाई पड़ सकते हैं। उनको स्तनपायी वर्ग के ही उपवर्ग कहा जाता है। यह तीन विभाग उनके शरीर की रचना के अनुकूल भी हैं।

अधिकांश स्तनिन गर्भपोषी हैं। माता की कोख में क्षुद्र अंड अधिक दिनों तक पोषित तथा विकसित होता रहता है। भ्रूण

(गर्भस्थ शिशु) को गर्भाशय द्वारा ही पोषण प्राप्त होता रहता है। बहुत थोड़ी संख्या के स्तनिन शिशुधानी (मारसुपियल) उपवर्ग बनाते हैं। इनके अंडे प्राय: गर्भपोषी जन्तुओं के अण्डे से बड़े होते हैं। वे अपेक्षाकृत थोड़े समय तक गर्भ में पोषित होते हैं। साधारणतया खेड़ी का उनमें अभाव ही होता है। कुछ शिशुधानियों में बहुत दुर्बल खेड़ी उत्पन्न होती है। शिशु उत्पादन के पश्चात् नवजात शिशु माता की एक उदरस्थ बाह्य थैली या शिशुधान में अधिक समय तक पड़े रह कर पोषित होते रहते हैं। उस शिशुधान में ही दुग्धदायी स्तन होता है। उससे शिशु दुग्धपान करते हैं।

शिशुधानी उपवर्ग के अतिरिक्त ओरनिथोरहिंचस तथा एचिडना दो प्रजातियाँ ऐसी हैं जो गर्भपोषी उपवर्ग में नहीं आतीं। इनको शिशुधानी उपवर्ग का भी नहीं माना जा सकता। इनका वंशोत्पादन मुख्यत: सरीसृपवत होता है। ये यथेष्ट बड़े आकार के अण्डे उत्पन्न करते हैं जिनमें प्रचुर मात्रा में श्वेत खाद्य द्रव (सफेदी) रहता है। वह एक कड़े छिलके के अन्दर बन्द रहता है। ये अण्डे गर्भाशय से निकलते हैं और बाहर सेए जाते हैं। अण्डे से कुछ समय बाद उत्पन्न शिशु माता के उदर की आदिम रूप की दुग्धग्रंथि से दुग्धपान करते हैं जिसमें स्तन नहीं होता। उत्पन्न होने के पश्चात् शिशुओं को दुग्ध ग्रन्थि से दूध पिला कर पोषित करने का ही एक मात्र गुण स्तनपायी सदृश होता है। इन जन्तुओं को अण्डज-स्तनिन कहते हैं।

अण्डज-स्तनिन की जातियाँ

अनेक शारीरिक रचनाओं में अण्डज-स्तनिन जन्तुओं को सरीसृपों के समान देखा जाता है। इनका रक्त स्तनिनों के अन्य उपवर्गों की अपेक्षा न्यून उष्ण होता है तथा बाह्य वातावरण के

तापमान से कुछ प्रभावित होकर न्यूनाधिक भी होता है। आदिम पक्षी वर्ग के जो उदाहरण आदिपक्षी (आर्चियोप्टेरिस) प्रस्तराव-शेष रूप में मिलते हैं उससे हमें ऐसे जन्तु का रूप मिलता है जो सरीसृप से कुछ रूपान्तर कर रहा हो, परन्तु निस्सन्देह रूप से पक्षी भी न बन गया हो। अतएव स्वभावतया आदिपक्षी के प्रस्तरावशेषों के संबन्ध में प्रश्न उठता है कि उसे पर युक्त सरीसृप ही माना जाय या सरीसृप रूप पक्षी कहा जाय। यही अवस्था अण्डजस्तनिनों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। वे ऐसे सरीसृप हैं जिसके शरीर पर रोम है तथा दुग्धग्रंथियाँ हैं। अतएव उन्हें रोम एवं दुग्धग्रन्थि-धारी सरीसृप कहें या बहुत आरम्भिक सरीसृपीय स्तनपायी नाम दें।

आदिपक्षी के सम्बन्ध में जन्तुविज्ञान-वेत्ताओं ने शरीर पर पर होने से पक्षी होने का मत निर्धारित किया। इसी प्रकार रोम और दुग्धपायी ग्रन्थि के कारण अंडजस्तनिन (स्तनपायी) वर्ग में ही गिना जाना निश्चित किया गया है।

हंसकमुखी या बत्तखमुखी का अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक नाम ओरनिथोरहिंचस है। अंग्रेजी में डकबिल नाम का अर्थ बत्तख (हंसक) के समान आड़ी चपटी चोंच का जन्तु है। आकार साधारण बिल्ली के बराबर होता है। इसका शरीर स्थूलकाय होता है किन्तु पूँछ छोटी तथा चपटी होती है। छोटा मुँह होता है जिसमें अगल-बगल की ओर निर्देशक नेत्र होते हैं। कान के आच्छादक पटों का न होना आदिम सरीसृपीय गुण नहीं माना जा सकता। हो सकता है कि विवरवासी वृत्ति होने के कारण इसके कर्णाच्छादक लुप्त हो गए हों। जलजीवी वृत्ति भी उसके लोप करने में सहायक हुई हो। इसके जबड़े, विशेषकर ऊपरी, एक चौड़ी, चपटी चोंच के रूप में होते हैं जिन पर रोमहीन त्वचा मढ़ी होती है। यह

उसके बत्तखमुखी या हंसकमुखी नाम पड़ने का कारण है। इसके



हंसकमुखी या बतचोंचा और उसका बिल

पैर अत्यन्त क्षुद्राकार होते हैं। प्रत्येक पैर में पाँच अँगुलियाँ होती हैं। पादांगुलियों के मध्य अंगुलिजाल (नर्म चर्मीय झिल्ली) होता है तथा प्रत्येक पादांगुलि पर एक बलिष्ठ पंजा (नखर) होता है। इन व्यवस्थाओं से उनमें विवर खोदने तथा जल में तैर सकने की शक्ति होती है। शरीर पर छोटे-छोटे मोटे भूरे बाल होते हैं। शरीर की लम्बाई में मध्यभाग में उदर की ओर दो छोटे-छोटे रोमहीन त्वचा के हल्के गड्ढे या पिचके चिन्ह होते हैं। प्रत्येक धब्बे के तल पर नलिकानुमा दुग्धग्रन्थियों के गुच्छ के अनेक मुख-द्वार खुलते हैं। उन रंध्रों से जो दूध स्वतः स्रवित होता रहता है उसी को उसके शिशु चूसते रहते हैं।

हंसकमुखी अर्द्ध जलजीवी जन्तु है। किसी सोते या तालाब के भींटे में विवर खोदता है। विवर का मुख पानी के अन्दर होता है, किन्तु भीतरी सिरा कई गजों दूरी पर ऊँचे तथा शुष्क स्थल में रहता है। इसका आहार क्षुद्रकाय जलजन्तु होते हैं। इसमें शैशव काल में ही केवल दूध के दाँत होते हैं, परन्तु बाद में दाँत नहीं रहते। इस कारण ऊपरी तथा निचले दोनों जबड़े में शृङ्गीय पट्टियाँ ही कठोर कवच के जन्तुओं को कुचल कर खाने में सहायता करती हैं।

शल्य चींटीभक्षक (वम्राद)

शल्य चींटीभक्षक को एचिडना कहा जाता है। इसका आकार हंसकमुखी ही के बराबर होता है किन्तु यह उससे कई बातों में भिन्न होता है। इसमें केवल नाममात्र की दुम ही होती है। चोंच पतली और तीव्र नोकीली होती है। दाँतों का सर्वथा अभाव होता है। प्रत्येक पैर में पाँच पादांगुलियाँ होती हैं। उनके मध्य नर्म चमड़े वाली झिल्ली (अंगुलिजाल) का अभाव होता है। पंजे बहुत दृढ़

विकसित होते हैं। इसकी पीठ पर लम्बे कड़े शल्य निकले होते हैं जो साही के काँटों समान दीखते हैं। वे बालों के ही रूपांतर



शल्य चींटीभक्षक

होते हैं। इन शल्यों के वीच-वीच साधारण मोटे बाल भी निकले होते हैं। उदर की ओर केवल मोटे बाल ही होते हैं।

शल्य चींटीभक्षक में भी हंसकमुखी की भाँति कर्ण-आच्छादक पटों (कर्ण शष्कुली) का अभाव होता है। यदि होते भी हैं तो अत्यन्त अविकसित रूप में। दुग्धपायी अंग हंसकमुखी समान होते हैं, परन्तु अन्तर यह होता है कि प्रत्येक दुग्धग्रंथि एक चिपका स्थल बनाती है, जिससे एक छिछला वन जाता है जिसके पेंदे में दुग्ध-नलिका का मुख खुलता है। इस छिछले स्थल से कुछ बाल निकले होते हैं। कदाचित इनसे शिशु के मुख में दूध जाने में

सहायता मिलती है। शिशुओं की चोंच इस गड्ढे में प्रविष्ट रहती है।

नवजात शिशुओं के पोषण-काल में उदर की त्वचा का एक अंश दुग्ध-ग्रन्थियों के क्षेत्र के निकट मुड़ा होता है जो एक अस्थायी शिशुधान (शिशुपालन की थैली) निमित करता है। उसी अस्थायी शिशुधान में अंडा सेया जाता है तथा अण्डे से बाहर होने पर भी शिशु कुछ समय तक उसी में रहता है। इस जन्तु का मस्तिष्क हंसकमुखी से अधिक विकसित होता है। इसका मस्तिष्क अपेक्षाकृत बड़ा होता है। हंसकमुखी के वृहद् मस्तिष्क का तल सपाट-सा होता है परन्तु उसकी अपेक्षा शल्य चींटीभक्षक में वृहद् मस्तिष्क का तल लहरियादार होता है। शल्य चींटीभक्षक जल से दूर ही रहता है और चींटी-चींटे खाकर जीवनयापन करता है। इसकी लम्बी जीभ चिपकन शक्ति युक्त होती है। यह इसकी विशेषता होती है। इसके दृढ़ पंजे चींटी का बिल खोद डालने में और गहरा बिल (विवर) बनाने में सहायक होते हैं।

अंडजस्तनिन के हंसकमुखी वंश में एक ही जाति हंसकमुखी या बत्तखमुखी नाम की होती है। शल्य चींटीभक्षक की दो या तीन जातियाँ या प्रजातियाँ एक दूसरा वंश बनाती हैं।

अंडजस्तनिन उपवर्ग के सभी जन्तुओं का निवास केवल आस्ट्रेलिया, टस्मानिया तथा न्यूगिनी में है।

शिशुधानी स्तनिन

शिशुधानी स्तनपायी कंगारू के समान जन्तुओं को कहते हैं। इन्हें अण्डज-स्तनिन तथा गर्भपोषी स्तनिन के मध्य का मानना चाहिये। कुछ बातों में ये अण्डज-स्तनिन के निकटवर्ती ज्ञात होते हैं तो कुछ बातों में गर्भपोषी स्तनिनों के निकटवर्ती हैं। इनकी मुख्य

विशेषता शिशु को पालने के लिए शरीर में बाहरी थैली या शिशु-धान होना है। शिशुधानों के रूप तथा स्थान में भेद से अनेक जातियाँ होती हैं, परन्तु ऐसे भी जन्तु शिशुधानी उपवर्ग के माने जाते हैं जिनमें आज शिशुधानी का अभाव पाया जाता है, किन्तु अन्य लक्षणों से उनको इस उपवर्ग से पृथक नहीं किया जाता है। हमें कुछ गर्भपोषी जन्तु भी ऐसे मिल सकते हैं जिनमें नाममात्र के शिशुधान का चिह्न आज भी विद्यमान है किन्तु इसी कारण उन्हें शिशुधानी वर्ग में नहीं रखा जा सकता, क्योंकि वे तो नाममात्र का शिशुधान विकासक्रम की पूर्व शृङ्खला ही व्यक्त करने के लिए क्षीण रूप में दिखाते हैं अन्यथा अन्य रूपों में उनको विकास का मार्ग पकड़ कर गर्भपोषी जन्तुओं का स्थान ग्रहण किये पाया जाता है।

दाँतों की व्यवस्था के विचार से शिशुधानी स्तनिन को एक उपवर्ग रूप में मान कर भी तीन गणों या विभागों में विभाजित माना जाता है। दाँतों में आगे वाले कर्तनक या काटने वाले हैं। उनके पीछे दोनों पार्श्व में एक-एक कुकुरदन्ता है। उनके पीछे चबाने वाले दाँतों से पहले वालों को अग्र चर्वणक और सबसे पीछे वालों को केवल चर्वणक या चहू के दाँत कहते हैं। इस दृष्टि से यदि क (कर्तनक), र (रदनक या कुकुरदन्ता), अ (अग्र चर्वणक) और च (चर्वणक) का संकेत बनाकर 'क ५, र १, अ ३, च ४' तथा 'क ४, र १, अ ३, च ४' कहा जाय तो यह समझ लिया जा सकता है कि प्रत्येक जबड़े के दाईं या बाईं ओर के भाग में इतने दाँत हैं। पहली व्यवस्था ऊपरी जबड़े की है और दूसरी निचले जबड़े की है। इसी को आप भिन्न रूप में सहज प्रकट कर सकते हैं :—

क $\frac{५}{४}$, र $\frac{१}{१}$, अ $\frac{३}{३}$, च $\frac{४}{४}$

ऐसी दाँत की व्यवस्था एक शिशुधानी गण में होती है।

ओपोसम, आस्ट्रेलिया के शिशुधानी मार्जार, शिशुधानी छछून्दर और शिशुधानी भेड़िए में इसी प्रकार की दन्तावली होती है।



ओपोसम

ओपोसम या छद्ममूर्च्छालु जन्तु इनमें अधिक प्रसिद्ध हैं। इसलिए

इन सबको यदि ओपोसमरूप या छद्ममूर्च्छालुरूप गण कहें तो अनुचित नहीं।

कङ्गारू की दन्तावली निम्न प्रकार की व्यवस्था रखती है :—

क $\frac{3}{1}$, र $\frac{1}{0}$, अ $\frac{2}{2}$, च $\frac{4}{4}$

यह दन्तावली शाकाहारी जन्तुओं समान होती है। ऊपर के ओपोसमरूप गण के जन्तुओं में छोटे-छोटे कर्तनक दाँत ऊपरी



कंगारू

जबड़े में चार या पाँच जोड़े और नीचे के जबड़े में कुछ कम होते हैं। कर्तनक दाँतों का आकार लगभग एक-सा होता है। कुकुरदन्ता बड़ा होता है। चर्वणक दाँत तीखे नोकोंयुक्त होते हैं। उस दन्तावली को मांसाहारी ढङ्ग का कहा जायगा। इसके विपक्ष कङ्गारू सरीखे जन्तुओं में प्रायः दो या कभी-कभी तीन जोड़े कर्तनक दाँत

ऊपरी जबड़े में होते हैं। निचले जबड़े में केवल एक जोड़ा कर्तनक होता है। मध्यवर्ती जोड़े बहुत दृढ़ता से विकसित होते हैं। रदनक (कुकुरदन्ता) या तो रहता ही नहीं, या न्यून विकसित रहता है। चर्वणक दाँत कुचलने वाले होते हैं, उनमें कभी-कभी रेखा समान उभाड़ होते हैं। कङ्गारू तथा छोटे आकार के कङ्गारू समान वैलेबी शिशुधानी, शिशुधान ऋत्त (वोम्बेट), फैलेंगर तथा कोआला में ऐसी दन्तावली होती है। इन जन्तुओं को कङ्गारूरूपगण कह सकते हैं।

शिशुधान स्तनिन में एक तीसरा गण भी होता है जिसे उपयुक्त दोनों गणों का मध्यवर्ती कह सकते हैं। उसकी जातियों के दाँतों का संख्याक्रम ओपोसमरूप गण के शिशुधानों सरीखे ही होता है परन्तु उन दाँतों का आकार बदला होता है और कंगारूरूप गण के अधिक अनुरूप होता है। इन्हें छोटे कुतरने वाले जन्तुओं (कृन्तक) के समकक्ष समझना चाहिए। अतएव इनको कृन्तक रूप गण या कृन्तकीय शिशुधानी गण कह सकते हैं।

शिशुधान स्तनपायियों का निवास आस्ट्रेलिया, टस्मानिया, न्यूगिनी तथा उस क्षेत्र के कुछ अन्य द्वीपों में पाया जाता है किन्तु न्यूजीलैंड में या अन्य किसी भी भूभाग में ये जन्तु नहीं मिलते। केवल ओपोसम छद्ममूर्च्छालु जन्तु दक्षिणी अमेरिका और दक्षिणी-पूर्वी उत्तर अमेरिका में और कृन्तकीय शिशुधान दक्षिणी अमेरिका में पाए जाते हैं।

गर्भपोषी स्तनिन

माता का दूध पीकर शैशव काल व्यतीत करने वाले जन्तुओं को ही स्तनधारी, स्तनपायी, दुग्धपायी आदि कहा जाता है। स्तनिन इन सब से छोटा शब्द है, इसलिए स्तनधारी, स्तनपायी

आदि की जगह उसका ही प्रयोग ऐसे जन्तुओं का वर्ग बतलाने के लिए सुगम हो सकता है। इस वर्ग के भी सूक्ष्म विवेचन से अंडज स्तनिन, शिशुधानी स्तनिन, और गर्भपोषी स्तनिन नाम के तीन उपवर्ग बने हैं। इनको आज जन्तु जगत के प्राचीन विभेदों—अंडज, पिंडज आदि के भ्रामक रूप के स्थान पर वैज्ञानिक विभेद प्रकट करते पाया जाता है। गर्भपोषी स्तनिन उपवर्ग बड़ा विशाल ही नहीं है, स्वयं मनुष्य भी उसी का एक भाग है, अतएव इस उपवर्ग का वर्णन जन्तु-जगत या स्तनपायी जगत् में मनुष्य का स्थान प्रकट करने के कारण भी अधिक महत्वपूर्ण हो सकता है।

गर्भपोषी जन्तुओं की उच्चता को महत्व प्रदान करने वाली प्रमुख शारीरिक रचना उन्नत रूप की विकसित कुक्षि या गर्भ-मंजूषा है। इन जन्तुओं का मस्तिष्क भी विशेष विकसित होता है।

गर्भपोषी स्तनिन की दन्तावली तथा पैरों की विभिन्न रचना के विचार से उनका श्रेणी-विभाग करना सुगम है। इन बातों का प्रभाव उनके आहार, निवास तथा रहन-सहन पर विशेष पड़ता है। सरीसृपों में तो दन्तावली एक समान दाँतों की होती है जिस कारण उन्हें समदन्ती कहा जाता है। परन्तु स्तनपायी जन्तुओं में दाँतों की संख्या, क्रम तथा रचना में विभेद होता है। इस कारण वे विषमदन्ती होते हैं। दन्तावली की संख्या प्रकट करने में उनके प्रत्येक प्रकार का एक संकेत अक्षर देकर बटा या भिन्न रूप में ऊपर और नीचे जो संख्या दी जाती हैं वे ऊपरी जबड़े तथा निचले जबड़े के एक पार्श्व के दाँतों का क्रम प्रकट करती हैं। उदाहरणतः यदि मनुष्य की ३२ दाँतों की दन्तावली का उल्लेख हो तो केवल आठ दाँतों को ही ऊपरी और निचले जबड़े में वर्णित किया जायगा। मनुष्य के प्रत्येक जबड़े के अर्द्ध या एक पार्श्व भाग में आठ-आठ दाँत मिल कर कुल दन्तावली की चौथाई संख्या ही

प्रकट करते हैं अतएव उसे चौगुना करने पर पूर्ण संख्या ३२ ज्ञात होगी। बिल्ली की स्थायी दन्तावली का संख्या-क्रम निम्न प्रकार है।

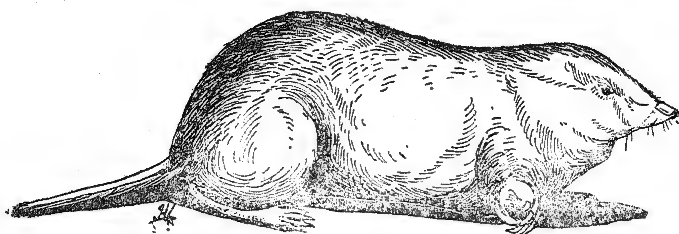
क (कर्तनक) $\frac{३}{३}$, र (रदनक या कुकुरदन्ता) $\frac{१}{१}$, अ (अग्र-चर्वणक) $\frac{३}{२}$; च (चर्वणक) $\frac{१}{१}$

इस दन्तावली के संख्या-क्रम से प्रकट होता है कि ऊपरी जबड़े के एक ओर के भाग में ३+१+३+१ मिलकर कुल आठ दाँत हैं किन्तु निचले जबड़े में ३+१+२+१ मिलकर कुल सात ही एक ओर होते हैं। अतएव ८ दाँत एक ओर के दोनों जबड़ों में होंगे। इसके दूने ३० दाँत पूर्ण दन्तावली में होंगे।

गर्भपोषी स्तनिन के विभिन्न गणों की आधुनिक जातियों के निवास या प्रसार-क्षेत्रों की चर्चा उनके वर्णनों के साथ की गई है। प्राचीन काल में उन जीवित जन्तुओं के पूर्वजों का प्रसार-क्षेत्र अन्यत्र भी हो सकता है या इन्हीं क्षेत्रों में कितनी विलुप्त जातियाँ भी प्रसारित रही होंगी जिनका स्मरण आज उनके कुछ प्रस्तराव-शेषों द्वारा ही हो सकता है। उनका कुछ वर्णन 'विलुप्त जन्तु' नामक पुस्तक में पाया जा सकता है।

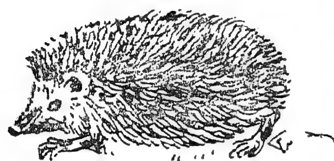
कीटभुज गण

कीटभक्षी या कीटभुज गर्भपोषी जन्तु क्षुद्रकाय होते हैं। क्षुद्रतम स्तनिन इसी में होते हैं। कतिपय वृक्षजीवी तथा विवर-वासी कीटभुजों को छोड़ कर शेष में विशेष उच्च गुणों का अभाव होता है। दन्तावली पूर्ण होती है, परन्तु अनेक प्रकार के दाँत एक दूसरे से बहुत अधिक विभिन्न नहीं ज्ञात होते। इसका मुख्य आहार कीट होते हैं। साधारणतया प्रत्येक पैर में पाँच अंगुलियाँ होती हैं। प्रत्येक अंगुली में चंगुल होता है। पृथ्वी पर पूर्ण पञ्जे को रखकर चलते हैं। बृहद मस्तिष्क का तल सपाट होता है।



छछून्दर

कीटभुजों के नमूने छछून्दर, वृत्तजीवी छछून्दर, छछून्दरी और कण्टमूष हैं। कण्टमूष या कटीला चूहा देखने में शल्यकी या साही के समान शरीर पर काँटे उत्पन्न किए दिखाई पड़ता है परन्तु साही दूसरे गण का जन्तु है जिसे कुतरने वाले या कृन्तक जन्तु कहते हैं। काँटों के आवरण से कण्टमूष के शरीर की रक्षा होती है। कीटभुज पूर्वी तथा पश्चिमी दोनों ही गोलार्द्धों में पाया जाता है किन्तु दक्षिणी अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड तथा उसके निटकवर्ती द्वीपों में नहीं पाया जाता। कण्टमूष केवल पूर्वी गोलार्द्ध में मिलता है।



कण्टमूषक

चर्मपक्ष गण

चर्मपक्ष गण वृक्षजीवी स्तनिन हैं। इनके शरीर के दोनों पार्श्व भाग में त्वचा की एक चौड़ी पट्टी फैली होती है जो गर्दन से अगले पैर तक, अगले पैर से पिछले पैर तक और पीछे की ओर पिछले पैर से दुम तक प्रसारित होती है। पैर की उंगलियों में

अङ्गुलिजाल (चर्मीय झिल्ली) होती है। पैर त्वचा की पट्टी से आगे की ओर निकले होते हैं। यह त्वचा की पट्टी शरीर में चिपकी रहती है, परन्तु जब जंतु उड़ने की इच्छा करता है तो वह झिल्ली



उड़ाकू लेमूर

शरीर से बाहर की ओर प्रसारित होकर पङ्ख-सा बन जाती है। ऐसे जंतु यथार्थ में पूर्णतः स्वतंत्र उड़ान करते नहीं कहे जा सकते, बल्कि छतरी के समान चर्मीय प्रसारित पट्टी से शरीर को हवा में सम्भाल सकने के कारण कुछ दूर तक लम्बी उड़नकुदान-सी कर लेते हैं। इनका मस्तिष्क आरम्भिक रूप का ही होता है। शरीर-रचना में ये कीटभुजों से ही होते हैं।

चर्मपक्ष गण में एक जाति का जंतु ही होता है जिसे उड़ता लेमूर या कोलुगो कहते हैं। इसका प्रसार-क्षेत्र पूर्वी द्वीपसमूह है।

चर्मचटक गण

चर्मचटक गण उड़ाकू स्तनिन हैं। इनका पङ्ख एक त्वचा-जाल होता है जो मुख्यतः अगले पैर में पार्श्व भाग में आबद्ध होता है और पीछे की ओर फैल कर पिछले पैर में आ जुटा होता है। पिछले पैर से भी पीछे की ओर फैल कर किसी में यह पूँछ को भी सम्मिलित कर लिए होता है या उससे स्वतन्त्र रहता है। केवल अंगूठे को छोड़कर शेष पादाङ्गुलियाँ अगले पैरों में बड़ी लम्बोतरी होती हैं और त्वचाजाल की कड़ी का काम करती है। त्वचाजाल का अधिकांश भाग इन चार अंगुलियों पर ही आधारित होता है। अंगूठा उसमें भाग नहीं लेता। अंगूठे में एक पैना चंगुल होता है। पिछला पैर त्वचाजाल के सिरे से स्वतंत्र रूप में आगे निकला होता है। उसकी प्रत्येक अंगुली में पैने चंगुल होते हैं। चर्मचटक, की दुम लम्बी, छोटी अथवा सर्वथा लुप्त हो सकती है। दन्तावली पूर्ण होता है, परन्तु बहुत अधिक विशिष्ट रूप धारण किए नहीं होती। वृहत मस्तिष्क का तल लहरियादार नहीं होता।

चर्मचटकों के दो उपगण हैं (१) फलभक्षी, (२) कीटभक्षी। फलभक्षी चर्मचटक का उदाहरण बड़े फलभक्षी चमगीदड़ हैं। उनके हाथ या अगले पैर की द्वितीय अंगुली तथा अंगूठे में चगुल होते हैं। यदि दुम होती है, तो त्वचाजाल के पिछले भाग में सम्बद्ध नहीं होती। पूर्वी द्वीपसमूह के उष्णतर भागों में ये पाए जाते हैं।

कीटभक्षी चर्मचटक का उदाहरण छोटे आकार के विशेषतया कीटभक्षी चमगीदड़ हैं किन्तु दक्षिणी अमेरिका का वैम्पायर चमगीदड़ स्तनिनों का रक्त चूसता है और उन्हें काटता है। हाथ की दूसरी अंगुली में चंगुल नहीं होता। यदि दुम होती है तो पिछले त्वचा-

जाल में सम्बद्ध होती है। इसकी अनेक जातियाँ हैं जो संसार भर में उपयुक्त वातावरणों में मिलती हैं।

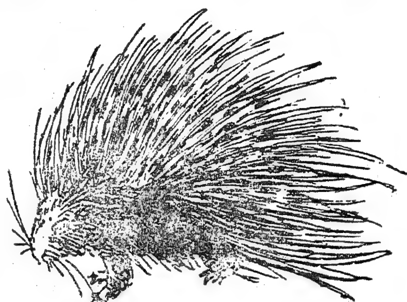
कृन्तक गण

कृन्तक गण या कुतर कर खाने वाले जन्तु क्षुद्रकाय तथा मुख्यतया शाकाहारी होते हैं। इनके दाँत कठोर वस्तुएँ काट सकने योग्य होते हैं। कर्तनक (आगे के दाँत) एक जोड़ा ऊपरी जबड़े और एक जोड़ा निचले जबड़े में होते हैं। वे लम्बे रुखानी समान होते हैं। उनमें दन्तवेष्ठ (इनेमल) नामक श्वेत रक्षक आवरण केवल शीर्ष के सामने के तल पर ही प्रायः मोटी तह में मढ़ा होता है, शेष भाग में वह पतली तह में ही होता है या उसका सर्वथा अभाव ही रहता है। इस प्रकार कुतर सकने के लिए पैना छोर रक्षित रहता है। रदनक (कुकुरदन्ता) होता ही नहीं। कर्तनक तथा चर्वणक (चहू के दाँतों) के मध्य मसूड़े में लम्बा रिक्त स्थान होता है। चर्वणक का ऊपरी सिरा चपटा होता है जिससे कुचलने और पीसने का काम लिया जा सके।

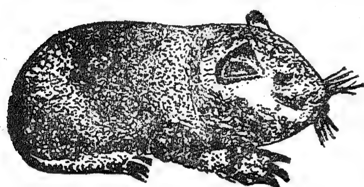
निचला जबड़ा जिस तल पर स्थित होता है, वह ऐसा लम्बा बना होता है कि आगे तथा पीछे खिसक सके। जब वह पीछे की स्थिति में होता है तो ऊपरी तथा निचले दोनों जबड़ों के चर्वणक दाँत मिल जाते हैं किन्तु कर्तनक दाँत नहीं सट सकते। पिछले जबड़े के कर्तनक दाँत ऊपरी जबड़े के कर्तनक दाँतों के पीछे ऊपर निकल गए होते हैं। जब कर्तनक दाँतों से कुतरने का काम लेना हो तो निचले जबड़े को अवश्य ही आगे की ओर रखना पड़ेगा जिससे दोनों जबड़ों के कर्तनक मिल सकें किन्तु उस समय दोनों जबड़ों के चर्वणक दाँत साथ नहीं मिल सकते। ऐसी स्थिति के कारण कुतरने और चबाने की क्रियाएँ साथ-साथ नहीं की जा

सकतीं। चबाने के समय निचला जबड़ा कुछ आगे-पीछे होता रहता है।

कुन्तकगण चलने में अपने पञ्जे पूरी तरह भूमि से स्पर्श कराते हैं। हाथ या अगले पैरों में अंगूठा छोटा होता है या बिल्कुल ही नहीं होता है। पिछले पैर में अंगुलियों की संख्या और भी न्यून हो सकती है। अंगुलियों में चंगुल होते हैं जो कभी-कभी इतने कुन्द होते हैं कि छोटे खुर समान बन गए होते हैं।



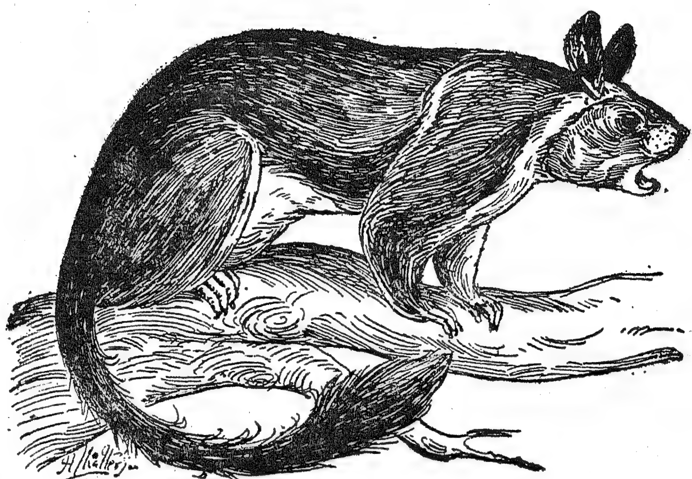
साही



गिनी सूअर

कुन्तक स्तनिनों के उदाहरण मूष, मूषक (चूहे-चूहियाँ) कलन्दक (गिलहरी), सेतुद्र (बीवर), शल्यकी (साही) आदि हैं। शल्यकी या साही के रूप उसके शरीर पर लम्बे-लम्बे कांटों के कारण भूल सकना कठिन है। इसके समान छोटे रूप का कंटकधारी जन्तु कण्टमूष कीटभुज गण का होता है। सबसे बड़े आकार का कुन्तक दक्षिणी अमेरिका का केपीबारा नामक अर्द्ध जलजीवी जन्तु होता है जिसकी लम्बाई चार फुट होती है। कलन्दक (गिलहरी) की दन्तावली निम्न प्रकार की होती है:—

क $\frac{1}{1}$, र $\frac{0}{0}$, अ $\frac{2}{1}$, च $\frac{3}{3}$



भारतीय दीर्घकलन्दक

कृन्तकगण में अन्य किसी भी स्तनिनगण से अधिक संख्या की जीवित जातियाँ पाई जाती हैं। कुछ लोग कृन्तक की ३००० जातियाँ बताते हैं। ये अधिकांश स्थलजीवी होते हैं। कुछ विवर-वासी और कुछ वृक्षजीवी होते हैं। अल्प-संख्यक रूप में जलजीवी या अर्द्ध जलजीवी भी होते हैं। उड़ाकू गिलहरी चर्मीय झिल्ली से उड़नकुदान कर लेती है। गिनी सूअर छोटे आकार रखते हैं।

कृन्तक जन्तु का प्रसार सारे संसार के उपयुक्त वातावरणों में पाया जाता है। दक्षिणी अमेरिका में इनकी संख्या अधिक है। आस्ट्रेलिया और मेडागास्कर में अपेक्षाकृत न्यून संख्या में पाये जाते हैं।

शश गण

शश गण में ऊपरी कर्तनक दो जोड़े होते हैं, पीछे वाले कर्तनक

के जोड़े बहुत छोटे हैं। निचले जबड़े में एक जोड़ा कर्तनक होते हैं। पूँछ नाममात्र को होती है। शशगण की दन्तावली निम्न संख्याक्रम की होती है :—

क $\frac{२}{१}$, र $\frac{०}{०}$, अ $\frac{३}{२}$, च $\frac{३}{३}$

शशगण में तीन जातियाँ ही पाई जाती हैं। खरगोश की ही दो जातियाँ होती हैं जिनमें एक शशक (रैबिट) कहलाती है। दूसरी को शश कहते हैं। शशगण की तीसरी जाति पाइका होती है। यह गण वैज्ञानिक विवेचन के पश्चात् कृन्तकगण से पृथक माना गया है।

शशगण का प्रसारक्षेत्र पूर्वी तथा पश्चिमी गोलार्द्धों के उपयुक्त वातावरण में विशेषतया उत्तरखंडों में है। आस्ट्रेलिया तथा मैडागास्कर का निवासी नहीं है।

शाखालंबिन रूपगण

शाखालम्बिन या स्लाथ आज के जन्तु-जगत के विचित्र जंतुओं में प्रसिद्ध है। उसके शरीर की कशेरुकाओं का पारस्परिक जोड़ दुहरे रूप में होता है जो केवल कुछ सरीसृपों में अवश्य पाया जाता है। किन्तु अन्य स्तनिनों में नहीं पाया जाता। केवल आर्मा-डिला तथा चींटीभक्षक कंकाल-रचना में स्लाथ की समानता प्रकट करते हैं इसलिए इनको एक पृथकगण में विभाजित माना गया है। इनमें दन्तावली कभी पूर्ण नहीं पाई जाती। कर्तनकों का अभाव होता है। रदनक भी नहीं होते परन्तु किसी-किसी में सबसे पहले के अग्र-चर्वणक रूप में प्रकट हो सकते हैं। चर्वणक दाँत छोटी कीलों रूप में जबड़े के प्रत्येक पार्श्वभाग में ४ से लेकर १० तक हो सकते हैं। किन्तु किसी-किसी में २० या २५ तक जबड़े के पार्श्व भाग में हो सकते हैं। वयस्क जंतुओं में दन्तवेष्ठ (इनेमल) नहीं

होता। पुराने दाँत घिस जाने पर उनकी जगह बराबर नये दाँत



स्लाथ

निकल आते रहते हैं। इस गण की कुछ जातियों के वयस्क जन्तुओं में दाँतों का सर्वथा अभाव होता है। अंगुलियों में चंगुल प्रायः

बड़े लम्बे, मुड़े हुए तथा अत्यधिक विकसित होते हैं। मस्तिष्क आदिम रूप का होता है।

आधुनिक स्लाथ वृक्षजीवी होते हैं। उनका वृक्षजीवन विचित्र होता है। अधिकांश वृक्षजीवी स्तनिन विशेष रूप से नाटे होते हैं। गिलहरी तथा बन्दर उदाहरण स्वरूप कहे जा सकते हैं किन्तु स्लाथों का आकार एक छोटी बिल्ली के समान आकार से लेकर बिल्ली के चौगुने या पँचगुने तक होता है। उनका शरीर तो छोटा होता है और पैर लम्बे होते हैं। अपनी लम्बी अँगुलियों के लम्बोतरे अत्यधिक वक्र चंगुलों को शाखा के ऊपर अँटका कर यह अपना शरीर शाखा के नीचे लटका लेता है। इस अवस्था में लटका रहकर ही स्लाथ धीरे-धीरे भद्दे रूप में उल्टे रेंगता रहता और चारों ओर फैली पत्तियों को खाता रहता है। भूमि पर तो यह बड़ी ही कठिनाई से रेंग कर किसी प्रकार चलने का स्वांग कर सकता है। इसके बाल लम्बे, मोटे और भूरे होते हैं किन्तु उस पर अलगा (सूक्ष्मदर्शकी वनस्पति) आ उगते हैं। इस कारण बालों का रङ्ग पत्तों-सा हरा होकर उसे छिपा रखने में सहायक होता है। प्रत्येक अर्द्ध हनु (जबड़े) में चार या पाँच चर्वणक ही उसकी कुल दन्तावली होती है। उसमें भी सबसे पहले वाला चर्वणक कदाचित रदनक ही होता है। ग्रीवा भाग की रचना तीन पादांगुलियों के स्लाथ में तो कशेरुकाओं के पृष्ठवंश से हुई रहती है। परन्तु दो पादांगुलियों के स्लाथ, में केवल छः कशेरुकाओं का ग्रीवा के पृष्ठ-वंश में स्थान होता है।

चींटीभक्षक या चींटीऋक्ष रोमीय शरीर के जन्तु हैं। किसी-किसी में तो बहुत अधिक बाल होते हैं। विशेषतया पूँछ के बाल अधिक लम्बे होते हैं। अपने विशेष प्रकार के आहार के लिए ये विशेष रूप का थूथन रखते हैं जो लम्बा और पतला होता है। उसमें

चिपकन जीभ भी लम्बी होती है जिससे बिल की गहराई से भी दीमक, चींटी, चींटे आदि पा सकें। बिल खोदकर भी इनको वे खाते हैं। वयस्क चींटीभक्षक (वम्राद) सर्वथा दन्तहीन होते



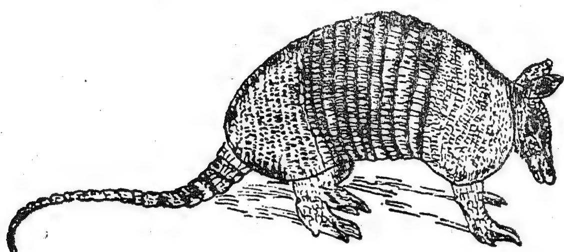
दीर्घ पिपीलिकाभक्षक

हैं। सबसे लम्बकाय चींटीभक्षक महाचींटी-भक्षक कहलाता है जिसकी लम्बाई थूथन के सिरे से लेकर पूँछ की छोर तक सात फुट होती है। कुछ क्षुद्रकाय चींटीभक्षक वृक्षजीवी होते हैं और उनकी लम्बी दुम ग्राही (कोई वस्तु लपेट सकने योग्य) होती है।

आर्माडिलो में सरीसृप के रूप का धोखा होने के लिए चर्मीय-स्तर के स्थान पर अस्थिपट्टिकाओं का भारी वर्म ऊपर से शृंगीय शल्कों से आच्छादित होता है किन्तु इन शल्कों (छिछड़ों) के बीच-बीच में मोटे रोम भी निकले होते हैं जो इसे स्तनिन होना सिद्ध करते हैं। धड़ क्षेत्र में अस्थिपट्टिकाएँ प्रायः क्षुद्रकाय और वर्गाकार सी होती हैं और आड़ी पट्टियों रूप में होती हैं जिनकी संख्या विभिन्न जातियों में विभिन्न होती है। स्कंध तथा कमर के अंतिम

भाग में बड़ी बड़ी पट्टिकाएँ हो सकती हैं। प्रत्येक पार्श्व हनु में ८ से १० तक दाँत हो सकते हैं किन्तु भीमकाय आर्माडिलो में २५ तक होते हैं। इस प्रकार गर्भपोषी स्तनिनों की दन्तावली की साधारण संख्या से वे बहुत ही अधिक होते हैं।

आर्माडिलो का आकार चूहे के बराबर से लेकर पूँछ मिलाकर ४ या ५ फुट तक लम्बा होता है। ये विवर बनाकर रहते हैं और

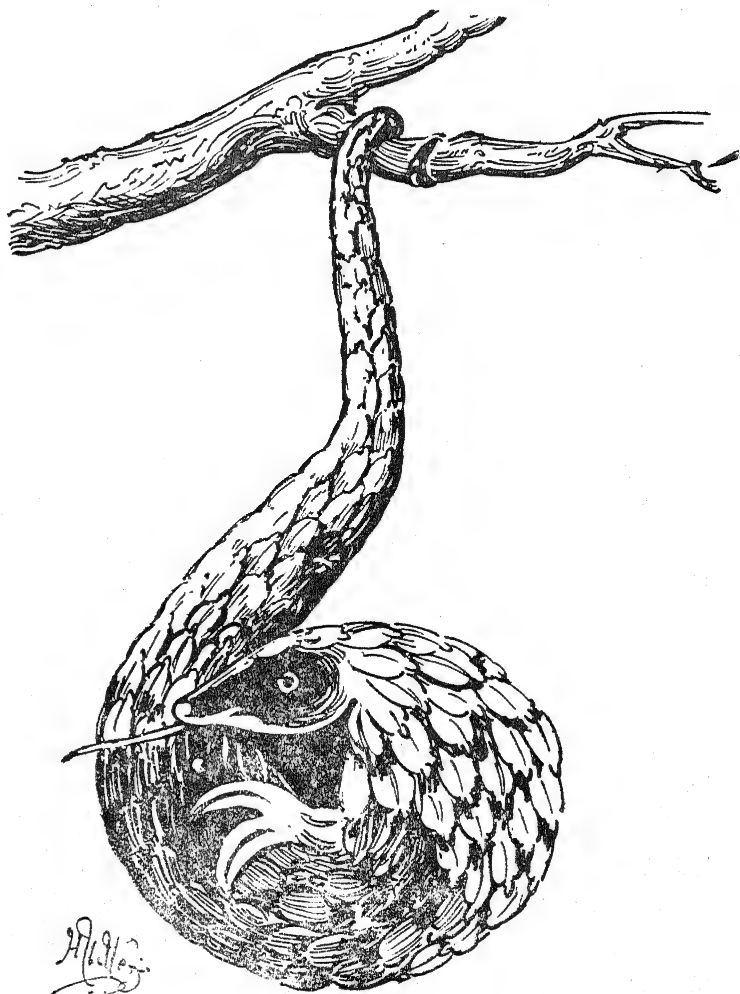


आर्माडिलो

रात्रिजीवी प्रवृत्ति रखते हैं। मुख्यतया कीटभक्षी होते हैं या कभी मांसभक्षी भी होते हैं। इन्हें अधिक दिनों के शव का भक्षण करने में भी आपत्ति नहीं होती।

कुछ आर्माडिलो में विचित्र सन्तानोत्पादन विधि पाई जाती है। प्रायः चार शिशु एक बार में उत्पन्न होते हैं। सभी शिशु एक लिंग के होते हैं अर्थात् चारों ही नर या चारों ही मादा होते हैं। उनकी उत्पत्ति एक ही गर्भस्थ अण्डे से होती है। गर्भाशय में उस एक अण्डे से बहुत आरम्भिक काल में ही चार भ्रूण बन जाते हैं।

शाखालम्बिन रूपगण का निवास दक्षिणी और मध्य अमेरिका में ही सीमित है। आर्माडिलो की केवल एक जाति "नवपट्टित आर्माडिलो" का उत्तरी अमेरिका के दक्षिणी टैक्सा प्रदेश तक प्रसार पाया जाता है।



पेंगोलिन

शल्किन गण

शरीर पर शल्क या छिछड़ा होने से जिन स्तनपायी जन्तुओं का विचित्र रूप होता है उन्हें शल्की स्तनिन कहते हैं। इस गण में केवल एक जाति मिलती है जिसे शल्की वम्राद या चींटीभक्षक कहते हैं। शल्की पैंगोलिन भी इसी का नाम है। एशिया तथा अफ्रिका इसका निवास-क्षेत्र है। बाह्य रूप से यह आर्माडिलो सदृश ही प्रतीत होता है। इसके शरीर पर एक-दूसरे पर आरोहित शृंगीय शल्कों का पूर्ण वर्म होता है। आर्माडिलो से यह विभिन्नता होती है कि उसके नीचे अस्थिपट्टिकाएँ नहीं होतीं। शल्कों के मध्य मोटे कड़े बाल उगे होते हैं किन्तु कुछ बड़े या वयस्क शल्की वम्रादों में बालों की न्यूनता या अभाव हो सकता है। पिछले पैर भूमि पर पंजे चपटा रखकर चलने वाले होते हैं, किन्तु अगले पैर की अँगुलियाँ इतनी अधिक नीचे तथा पीछे की ओर वक्रित होती हैं कि चलने पर उनका ऊपरी तल ही भूमि पर बैठता है। वयस्क सर्वथा दंतहीन होते हैं। थूथन, जबड़े तथा जीभ का आकार अन्य चींटीभक्षकों समान लम्बोतरा होता है।

अधिकांश शल्की चींटीभक्षक भूजीवी होते हैं, किन्तु कुछ क्षुद्रकाय शल्की चींटीभक्षक वृक्षजीवी होते हैं और उनकी पूँछ ग्राही होती है। भीमकाय शल्की चींटीभक्षक का आकार पूँछ मिलाकर ५ या ६ फुट लम्बा होता है। शल्की चींटीभक्षकों का मुख्य आहार दीमक है।

नालदंत गण

नालदंतगण की एक जाति भूशूकर या आर्डवर्क कहलाती है। वह दक्षिण अफ्रिका में पाई जाती है। इसका आकार सूअर के

बराबर होता है। बाह्य रूप देखने से तो यह भद्दा ही ज्ञात होता है। भद्दा धड़, पुष्ट पैर, मोटी पूँछ, छोटा सिर तथा गधे समान लम्बे कानयुक्त इसका रूप होता है। साधारण रूप का लम्बा, पतला थूथन, छोटा मुख, तथा लम्बी जीभ से इसका मुख्य आहार दीमक होना प्रकट होता है। इसके शरीर पर विरल रूप में छोटे और मोटे बाल निकले होते हैं। पिछले पैर में पाँच और अगले पैर में चार अँगुलियाँ होती हैं। उनमें भारी कुन्द चंगुल निकले होते हैं, किन्तु भूमि पर चपटा बैठने वाले पैर खोदने के लिए उपयुक्त नहीं होते, किन्तु यह विवरवासी रात्रिजीवी जन्तु बताया जाता है।

इस गण का नाम दाँत की विशेषता के कारण है। प्रत्येक अर्द्ध हनु में गोल आकार के चार या पाँच चर्वणक दाँत होते हैं। उनमें दन्तवेष्ठ (इनेमल) का अभाव होता है। दाँतों के शीर्षतल की रचना अनेक नलिकावत स्तम्भों से होती है जो दाँत की धुरी के समानांतर बढ़े होते हैं और प्रत्येक में एक नली प्रविष्ट होती है जो दाँत के आधार में केन्द्रीय मज्जा-गुहा (अस्थि के मध्य स्थित रहने वाले जीवन-द्रव या मज्जा का गड्ढा) से सम्बन्ध स्थापित करती है।

मांसभुज गण

मांसभुजों में प्राय: दाँतों को छोड़कर शरीर-रचना में कोई विशेषता नहीं पाई जाती। वे पूर्णत: तो नहीं, किंतु मुख्यत: मांस-भक्षी होते हैं। दन्तावली पूर्ण और अत्यधिक विषमदन्ती होती है। सामने के दाँत (कर्तनक) छोटे तथा तीक्ष्ण धार वाले होते हैं, कुकुरदंता (रदनक) लम्बे, शंकुवत तथा पैनी नोक के होते हैं, कुछ जन्तुओं में हाथीदाँत समान लम्बे बन गये होते हैं। उदाहरणार्थ वालरस तथा विलुप्त कटारदंती व्याघ्र कहे जा सकते हैं। चहू या

चबाने के दाँत (चर्वणक) की रचना काटने के लिए होती है, उनमें प्रत्येक के शीर्ष पर पैनी किनारियों और नोकों की प्यालियाँ बनी होती हैं। श्वान इस गण का जन्तु है। उसकी दन्तावली निम्न प्रकार होती है :—

कर्तनक $\frac{3}{3}$, रदनक $\frac{1}{1}$, अग्र चर्वणक $\frac{4}{4}$, चर्वणक $\frac{2}{3}$

पैरों में प्रायः चार अँगुलियाँ होती हैं, किंतु चार से कम कभी नहीं होतीं। उनमें तीव्र चंगुल होते हैं। वे बिल्ली की भाँति समेट कर भी रक्खे जा सकते हैं। पाचन-संस्थान साधारण होता है। मस्तिष्क यथेष्ट विकसित होता है। वृहद मस्तिष्क में लहरों की बहुलता होती है जो अधिक बुद्धि का लक्षण है। अधिकांश मांसभुज स्थल-जीवी होते हैं, किन्तु कुछ मांसभुज जलजीवी रूप के अत्यधिक अभ्यस्त हैं। अतएव मांसभुजों को दो उपगणों में माना जाता है—(१) स्थलजीवी मांसभुज, (२) जलजीवी मांसभुज।

स्थलजीवी मांसभुज—स्थलजीवी या अर्द्ध जलजीवी मांसभुजों को स्थलजीवी मांसभुज उपगण में माना जाता है। इसके सात वंश निर्धारित किये गये हैं :—

श्वान वंश—श्वान, वृक (भेड़िया), लोमड़ी।

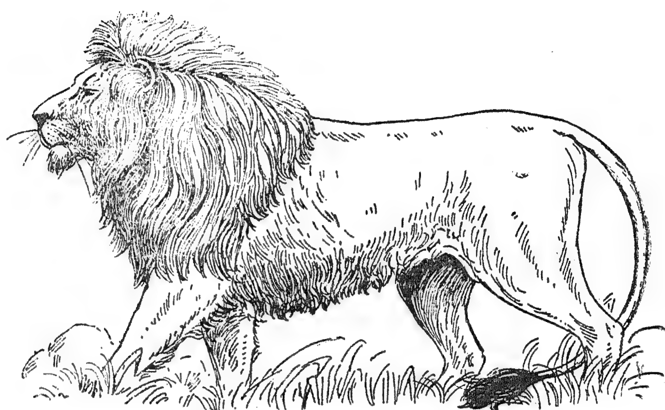
विडाल ऋक्ष वंश—रैकून, दक्षिण अमेरिका का किंकजाऊ, एशिया का पंडा।

ऋक्ष वंश—भालू या रीछ (ऋक्ष)।

जलविडाल वंश—ऊदबिलाव (जलविडाल), वीजेल, एरमाइन, मिंक, फेरेट, मार्टेन।

गंधविडाल और नकुल वंश—नेवला (नकुल), कस्तूरी विडाल, (सिवेट), जेनेट।

तरक्षु वंश—एशिया और अफ्रिका के तरक्षु (लकड़बग्घा)।



सिंह

मार्जार वंश—बिल्ली (मार्जार), बनबिलाव (लिंक्स), जगुआर, सिंह, व्याघ्र, चीता।

जलजीवी मांसभुज—जलजीवी मांसभुजों का शरीर मछलियों की भाँति धारासुगम्य होता है जिसमें आगे तथा पीछे के सिरे तो अपेक्षाकृत पतले और नोकीले होते हैं और मध्य का भाग क्रमशः छोरों से मध्यवर्ती बिन्दु तथा स्थूल बना रहता है। इस कारण इस रूप के पदार्थ या जीव पानी या वायु के प्रवाह में विशेष अवरोध नहीं कर सकते। अतएव ऐसे रूप को प्रवाहअनवरोधी या (प्रवाहानवरोधी) भी कह सकते हैं। ऐसे रूप के जलजीवी मांसभुजों में पूँछ छोटी होती है, पूँछ में सवन पङ्ख (फिन या तैराने वाले मत्स्य-पङ्ख) नहीं होते। स्कंधदेशीय तथा कटिदेशीय भुजाएँ विशेष विकसित होती हैं किंतु क्षुद्राकार और बाह्य रूप में मछलियों के मत्स्य-पङ्ख समान होती है। पाँचों अँगुलियाँ एक साथ अँगुलिजाल

बाँधने वाली झिल्ली) में आवद्ध होती हैं। इसके तीन वंश माने जाते हैं :—

कर्णवती सील वंश—छोटी कर्णआच्छादक पट्टिका तथा कटि-



तिमि (ह्वेल)

प्रदेशीय मत्स्यपङ्ख होते हैं। भूमि पर अपने मत्स्यपङ्खों की सहायता से भद्दे रूप में चल सकती हैं। उदाहरण—जलसिंह, रोमीय सील।

कर्णहीन सील वंश—कर्णआच्छादक पट्टिका का अभाव होता है। कटिप्रदेशीय मत्स्यपङ्ख पीछे की ओर निर्देशित होते हैं। तैरने में सहायक हैं, परन्तु आगे की ओर नचाए नहीं जा सकते। अतएव भूमि पर निरुपयोगी होते हैं। उदाहरण—साधारण सील।

हस्तीदन्ती वंश—हस्ती के समान दो लम्बे रदनक दाँतोंयुक्त जलजीवी मांसभुजों को इस विभाग में माना जाता है। कर्ण-आच्छादक पट्टिका नहीं होती। ऊपरी रदनक इतने बढ़े होते हैं कि हाथी दाँत की भाँति ऊपरी जबड़ों से निकले दिखाई पड़ते हैं किन्तु नीचे की ओर बढ़े रहते हैं। वालरस इसका उदाहरण है।

मांसभुजों का प्रसार संसार भर के उपयुक्त वातावरण के क्षेत्रों में पाया जाता है परन्तु आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड तथा पालीनेशिया

और उनके निकटवर्ती द्वीपों में इनका अभाव पाया जाता है। आस्ट्रेलिया का देशी श्वान 'डिंगो' मांसभुज है किन्तु केवल अकेले इसी मांसभुज स्तनपायी के होने से इसका कहीं बाहर से आगमन अनुमान किया जाता है।

विषमांगुलीय गण

स्तनपोषी या स्तनिन जन्तुओं के पैर अधिकांशत: पाँच अँगुलियोंयुक्त होते हैं किन्तु अँगुलियों के रूप में विभेद होता है। उनमें बहुत से ऐसे जन्तु हैं जिन्होंने जीवन की आवश्यकतावश देश काल के अनुरूप अपनी पाँचों अँगुलियों का ऐसे रूपों में घोर विकास किया कि कालान्तर में एक या दो अँगुलियाँ ही पैर को भूमि पर स्पर्श कराने में समर्थ हो सकीं। इनमें शेष अँगुलियों के क्षुद्र रूप आज भी पैर के कुछ ऊपर या दूर अँगुलियों के नाम का उपहास करते ही प्रकट होते हैं। हम घोड़े, खच्चर, गधे, बैल, गाय, बकरी आदि के पैरों की ओर देखें तो यह बात स्पष्ट प्रकट हो जायगी। हम जिस विभाग के जन्तुओं को विषमांगुलीय कह रहे हैं उनको यदि सीधे शब्दों में सुम वाले जन्तु कहा जाय तो अर्थ का बोध हो सकता है। घोड़े के टाप को देखें। पूरा टाप एक अँगुली का नख ही है जो शृंगीय पदार्थ से बड़ा और कठोर रूप बनाकर अपने चपटे निचले तल को पूर्णत: भूमि से स्पर्श कराकर पैर का अवलम्ब-स्थल बनता है। थोड़ा ऊपर पार्श्व भागों में नन्हें-नन्हें काले स्थल उस समय की याद दिलाते हैं जब अश्व भी दूसरी और चौथी अँगुली को आज के बड़े टाप के साथ ही भूमि को स्पर्श किया करते थे। कठोर भूमि पर तीव्रगति से दौड़ सकने के लिए केवल मध्यवर्ती अँगुली के नख का सहारा लेना अधिक फलदायक था, इस कारण अन्य हिंस्र पशुओं से बचने के लिए

ही कदाचित् अश्व ने तीसरी या मध्यवर्ती अँगुली के नख का सतत प्रयोग कर पूर्ण विकास किया। अतएव प्रकृति ने व्यवहार की पुनरावृत्ति से अश्व की आवश्यकता को स्वीकार किया और विकास-वर्ती साधनों से एक नख का अश्व संसार में उत्पन्न हुआ। परन्तु तीन नखों के पूर्व भी अश्व का रूप था जिसमें पाँचों अँगुलियों को भूमि स्पर्श करते पाया जाता। लाखों-करोड़ों वर्षों के विकास-क्रम को प्रकट करने वाले क्रमिक रूप के प्रस्तरावशेष अश्वों के पैर की यह कथा स्पष्ट प्रकट करते हैं।

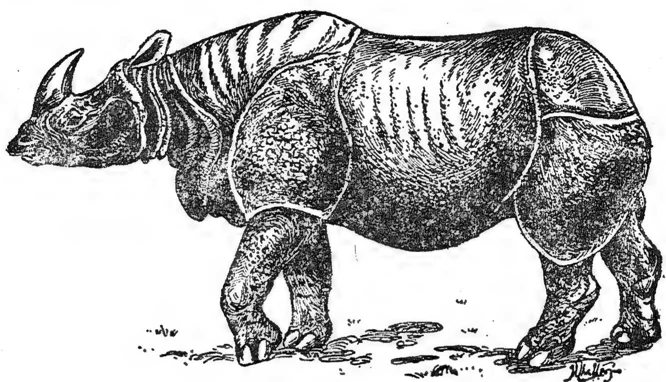
अश्व के सदृश बिचली अँगुली का अत्यधिक विकास होने से एक नख के स्तनिन सुमवाले जन्तु कहलाते हैं, परन्तु हमें ऐसे रूप भी मिल सकते हैं जिनमें दूसरी तथा चौथी अँगुलियों का भी मध्य-वर्ती अँगुली समान उपयोग होता है और इन तीनों अँगुलियों का समान रूप में विकास हुआ हो, परन्तु प्रथम तथा पंचम अँगुलियाँ ही क्षीण या लुप्त-सी हों। इन जन्तुओं को भी विषमां-गुलीय कहा जायगा। जिन स्तनिनों की तृतीय अँगुली अत्यधिक बलिष्ठ तथा एकमात्र व्यावहारिक प्रयोग की अँगुली होती है, चलने के समय केवल उसी के नख भूमि स्पर्श करते हैं। दूसरी और चतुर्थ अँगुलियाँ एक समान विकसित पाई जाती हैं। यदि प्रथम और पंचम अँगुलियाँ भी विद्यमान हों तो वे परस्पर एक दूसरे के समान आकार की विकसित होती हैं।

विषमांगुलीय स्तनिनों के तीन वंश होते हैं :—

१. अश्व वंश—एक नख को ही सुम रूप में पैर का निम्न आधार बनाने वाले विषमांगुलीय स्तनिन अश्ववंशी कहे जा सकते हैं। जैसे अश्व, गर्दभ, जेब्रा।

२. गंडक वंश—पैरों में केवल तीन अँगुलियाँ व्यावहारिक रूप में विकसित होती हैं। एक विशेषता और भी होती है कि सिर के

अग्रभाग के मध्य एक या दो सींगें होती हैं जिनका आकार मझोला होता है। मध्यवर्ती भाल या नासिका प्रदेश में सींग होने से ही गेंडा नासिश्रृंग नाम से पुकारा जाता है। अगले तथा पिछले दोनों



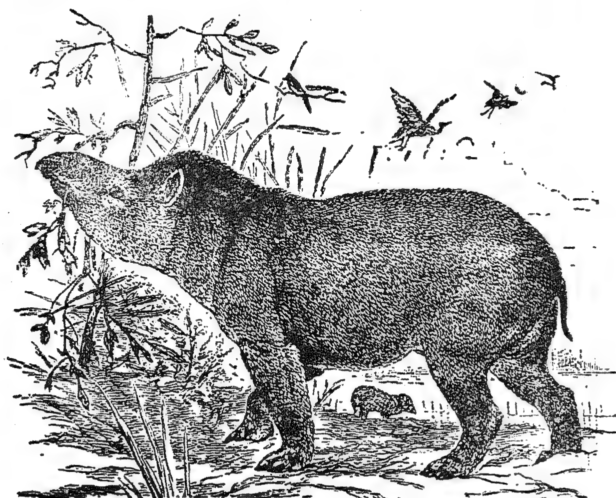
एकश्रृंगी गंडक

पैरों में प्रत्येक में तीन अँगुलियाँ व्यवहार में ला सकने के लिए विकसित रखने वाला स्तनिन गेंडा ही होता है। अन्य जन्तुओं की सींगें अस्थिखंड से निर्मित पाई जाती हैं, परन्तु गेंडे की सींग श्रृंगीय पदार्थ के रेशों से ही निर्मित होती है। इसके अन्तर्भाग में अस्थि नहीं होती। बालों के संयुक्त होकर एक हो जाने से ही कदाचित उसकी रचना नहीं होती है। गेंडा की जातियाँ एशिया और अफ्रीका में पाई जाती हैं।

३. टापिर वंश—इस नाम के वंश में टापिर प्रसिद्ध हैं। इसके अगले पैरों में चार और पिछले पैरों में तीन अँगुलियाँ होती हैं। फिर भी विषमांगुलीय स्तनिन ही कहलाते हैं। टापिरों में थूथन छोटे सूँड़-सा बढ़ा होता है। इस कारण इनको क्षुद्र-शुंडीय भी नाम

दिया जा सकता है। टापिरों का प्रसारक्षेत्र मलाया तथा दक्षिणी और मध्य अमेरिका है।

विषमांगुलीय स्तनिनों के दाँत शाकाहारी जन्तुओं के रूप के



अमेरिकीय टापिर

होते हैं। आगे वाले दाँत (कर्तनक) काटने का कार्य कर सकने में समर्थ होते हैं। उनके बाद वाले कुकुरदंता (रदनक) छोटे होते हैं। चहू के दाँत (चर्वणक) चपटे शीर्ष वाले तथा लम्बी रेखानुमा उभाड़ोंयुक्त होते हैं जिससे कुचलने तथा पीसने का काम ले सकें। अश्व की दन्तावली निम्न रूप की होती है :—

कर्तनक $\frac{3}{3}$, रदनक $\frac{1}{1}$, अग्रचर्वणक $\frac{4}{4}$, चर्वणक $\frac{3}{3}$

इसका अर्थ यह है कि दाईं या बाईं ओर के एक पार्श्व में ऊपरी जबड़े में ३ कर्तनक, १ रदनक, ४ अग्रचर्वणक तथा ४ चर्वणक

होते हैं और नीचे के जबड़े में भी इसी के अनुरूप होते हैं। इन जन्तुओं का पोषण संस्थान साधारण रूप का होता है।

अश्ववंशी विषमांगुलीय आधुनिक काल में केवल पूर्वी गोलार्द्ध के निवासी हैं किन्तु विषमांगुलीय जंतुओं के तीनों आधुनिक वंशों के प्रस्तरावशेष पश्चिमी गोलार्द्ध में पाये जाते हैं। अतएव सिद्ध होता है कि पूर्वकाल में उस क्षेत्र में इन जातियों की पूर्व पीढ़ियों का निवास अवश्य था।

समांगुलीय स्तनिन

समांगुलीय स्तनपोषी जन्तुओं में पैर को भूमि पर अवलम्बित करने के लिए तीसरी और चौथी अँगुलियों का एक समान विकास हुआ रहता है। उन दोनों का पैर के प्रयोग में समान महत्व होता है। अन्य अँगुलियाँ अविकसित या सर्वथा लुप्त रहती हैं। यदि वे विद्यमान हों तो द्वितीय तथा चतुर्थ अँगुलियाँ परस्पर एक-दूसरे समान विकसित होती हैं। प्रथम अँगुली कुछ विलुप्त हो चुके समांगुलीय स्तनिनों के प्रस्तरावशेष में पाई जाती है। समांगुलीय स्तनपोषियों की दन्तावली शाकाहारी जन्तु सदृश होती है। कर्तनक दाँत काट सकने योग्य होते हैं। रदनक छोटे होते हैं तथा चर्वणक चबा या पोस सकने योग्य होते हैं।

समांगुलीय स्तनिन गण के दो विभाग किये जाते हैं :—

(१) चतुरांगुलीय उपगण, (२) द्विशफ उपगण।

चतुरांगुलीय उपगण—इस उपगण के जन्तुओं में प्रत्येक पैर में चार अँगुलियाँ होती हैं। द्वितीय तथा पञ्चम भी यथेष्ट विकसित होती हैं। कुकुरदन्ता (रदनक) लम्बे होकर वक्र हाथी दांत से हो जाते हैं, विशेषतया नर में प्रमुख होते हैं। चर्वणक में गोल उभाड़ होते हैं। शूकर की दन्तावली निम्न रूप की होती है :—

कर्तनक $\frac{३}{३}$, रदनक $\frac{१}{१}$, अग्रचर्वणक $\frac{४}{४}$, चर्वणक $\frac{३}{३}$

इन उपगण के दो वंश हैं (१) शूकर वंश, (२) जलअश्व वंश। शूकरवंश में सूअर और पेक्कारी हैं। जल अश्ववंश का दरियाई घोड़ा प्रसिद्ध है।

द्विशफ उपगण—इन्हें जुगाली करने वाले जन्तु कहा जाता है। इनमें प्रायः दो अँगुलियाँ ही प्रत्येक पैर में व्यवहार्य होती हैं। गाय, बैल, बकरी आदि में खुर रूप में दिखाई पड़ने वाला भाग उनकी तीसरी चौथी अँगुलियों के ही नख का वृद्धि-प्राप्त रूप होता है।

द्विशफ या द्वयांगुलीय स्तनिन में द्वितीय तथा चतुर्थ अंगुलियाँ अल्पविकसित या सर्वथा लुप्त होती हैं। दन्तावली में ऊपरी कर्तनक दाँत छोटे या प्रायः लुप्त होते हैं। कुकुरदन्ता (रदनक) भी छोटे या लुप्त होते हैं। चर्वणक में दूज के चाँद समान अर्द्ध वृत्तीय उभाड़ होते हैं। निम्न रूप में दाँतों का क्रम पाया जाता है:—

कर्तनक $\frac{०}{३}$, रदनक $\frac{०}{१}$, पूर्व चर्वणक $\frac{४}{४}$, चर्वणक $\frac{३}{३}$

द्वयांगुलीय या जुगाली करने वाले जन्तुओं की विशेषता आमाशय की जटिलता है जो कई भागों में, प्रायः चार खंडों में विभक्त रहता है। खाने और चबाने के कार्य पृथक-पृथक होते हैं। चारा बिना चबाए ही निगल लेने पर अपेक्षाकृत आगे की ओर के एक या दो खंडों में पहुँचता है और थोड़े समय के लिए संचित रहता है। खाना समाप्त हो जाने पर चारा की मात्रा उगलने की क्रिया होने से पुनः मुख में पहुँचती है और अवकाश के समय कुचली जाती है। इसे ही जुगाली करना कहते हैं। जुगाली कर लेने के पश्चात् सूक्ष्म रूप में खंडित तथा अर्द्ध द्रव रूप में होकर चारा पुनः पीछे की ओर के आमाशय के खंड में पहुँचता है। वहाँ पर उसका पाचन होता है।

द्विशफ या जुगाली करने वाले जन्तुओं के अनेक वंश माने जाते हैं।

उष्ट्र वंश—इसमें यह विशेषता होती है कि एक ऊपरी कर्तनक तथा चारों रदनक विद्यमान होते हैं। सींगों का सर्वथा अभाव होता है। इस वंश के जन्तुओं में एक तथा दो कुहानों वाले ऊँट एशिया में पाए जाते हैं तथा लामा दक्षिणी अमेरिका में पाया जाता है।

हरिण-मूषक वंश—एशिया तथा अफ्रिका में हिरनमूसा या हरिण मूषक नाम का जन्तु होता है जो विषमदन्ती तथा समदन्ती स्तनिनों (खुर वाले जानवरों) में सब से छोटे आकार का होता है। यह खड़े होने पर केवल १२ इञ्च ऊँचा होता है। इसका रूप हिरन के समान ही होता है किन्तु एक तो बहुत छोटा आकार का होता है, दूसरे सींग नहीं होती।

शृङ्गपाती या मृग वंश—इसकी जातियों में प्रायः सिर पर एक जोड़े शृङ्ग ठोस अस्थायी उभाड़ सरीखे बने होते हैं जिन पर अस्थायी रूप से ही त्वचा का आवरण होता है। यह शृङ्ग सिर की सम्मुखीय अस्थि से उभड़े होते हैं और उनसे प्रायः शाखा प्रशाखाएँ फूटी होती हैं। ये शृङ्ग वार्षिक रूप से गिर कर पुनः उत्पन्न होते हैं। शृङ्ग प्रायः नरों में ही होते हैं। किन्तु मृग की कुछ जातियों में नर और मादा दोनों में पाये जाते हैं। कस्तूरी मृग, साधारण मृग, रेन डियर, एल्क और मूज की मादा में शृङ्ग का सर्वथा अभाव होता है।

जिराफ या उष्ट्र-चित्रक वंश—अत्यन्त लम्बी गर्दन तथा पैरों के कारण ज़िराफ ऊँचे वृक्षों की शाखाओं से पत्तियाँ खा सकता है। छोटे वृक्षों का अभाव होने पर ही इतनी लम्बी गर्दनों तथा पैरों का विकास हुआ होगा जिससे ऐसे जन्तुओं की जातियाँ अफ्रिका के

अपेक्षाकृत हरीतिमा-दुर्बल स्थानों में जीवित रह सकें। इन जन्तुओं में स्थायी रूप के अस्थि-उभाड़ों रूप में त्वचा से आवेष्ठित शृङ्ग होते हैं। एक जोड़े शृङ्ग छोटे आकार के होते हैं। जिराफ तथा ओकापी जातियाँ इस वंश में होती हैं जो अफ्रिका में ही होती हैं। ओकापी को आकार तथा पैरों पर प्रमुख पट्टियों के साथ जेब्रा समान कहा जा सकता है। परन्तु जेब्रा में एक तो सारे शरीर में पट्टियाँ या धारियाँ होती हैं, दूसरे वह विषमांगुलीय होता है किन्तु ओकापी समांगुलीय (द्वयांगुलीय) स्तनिन है। अतएव यह जिराफ का अधिक निकटवर्ती है। इसके पैर और ग्रीवा का आकार जिराफ की अपेक्षा छोटा होता है। ओकापी घोर जंगलों में छिपा ही जन्तु था किन्तु अन्वेषकों ने इसका आधुनिक संसार को ज्ञान कराया। वह बेलजियम कांगो में (अफ्रिका) में पाया गया था।

पाताल मृग वंश—पाताल देश या नई दुनियाँ में पाए जाने वाले प्रांगमृग का एक विशेष वंश ही माना जाता है। इसके एक शीर्षीय शृङ्ग स्थायी अस्थि-गर्भ रखते हैं किन्तु उनके शृङ्गीय आवरण का प्रति वर्ष लोप तथा जन्म होता है।

स्थिरशृङ्गी हिरण वंश—इन जन्तुओं की सींग भीतर खोखली होने से स्थिर या रिक्तगर्भ-शृंगी नाम देना उचित है। भीतरी अंश बाँस की भाँति बिल्कुल खाली नहीं रहता, बल्कि मुख्य दृढ़ आधार के ऊपर आवरण होता है, परन्तु भीतर हड्डी होती है। अतएव इन जन्तुओं को अस्थिगर्भशृंगी कहा जाता है। इसके उदाहरण ढोर (गाय, बैल, भैंस आदि), बीसन, भेड़, बकरी, गजेली, हरिण आदि हैं। हरिण और मृग शब्दों को पृथक-पृथक अर्थों का द्योतक मानना उचित है जिससे प्रमुख रूप में अस्थि से निर्मित तथा त्वचा से मण्डित शृङ्गों के धारण करने पर मृग नाम प्रचारित रखा जाय और गाय, बैलों की तरह भीतरी भाग में अस्थि, किन्तु बाहरी भाग

में दृढ़ कठोर श्रृंगी पदार्थ से बने रूप की सींगों वाले जन्तु को हरिण नाम से पुकारा जाय।

समांगुलीय स्तनिन पूर्ण गण के रूप में विचार करने पर पूर्वी तथा पश्चिमी, दोनों गोलार्द्धों में प्रसारित हैं। केवल आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, पालिनेशिया में मनुष्य द्वारा पहुँचाए जाने के अतिरिक्त नहीं पाए जाते। वन्य शूकर केवल पूर्वी गोलार्द्ध के जन्तु हैं, पाताल शूकर या पेक्कारीज पश्चिमी गोलार्द्ध में ही होते हैं। जल-अश्व अफ्रीका का जन्तु है।

अस्थिश्रृङ्गी या मृग वंश दोनों गोलार्द्धों में बहुसंख्यक हैं, वे विशेषतया अपेक्षाकृत उत्तरी खंडों में ही अधिक होते हैं। अस्थि-गर्भश्रृंगीवंश या स्थिर श्रृङ्गी के हरिण पूर्वी गोलार्द्ध के ही जन्तु हैं। पाताल हरिण (प्रांगबक या अमेरिकीय हरिण) केवल उत्तरी अमेरिका के पश्चिमी भाग में होता है।

शुण्डीय गण

शुण्डीय गण का उदाहरण हाथी दीर्घतम आकार का स्थल-जीवी स्तनिन है। विषमांगुलीय तथा समांगुलीय गणों में पैर का कार्य एक या दो पुष्ट अंगुलियों पर डालने की ही वृत्ति होती है, उनके विपक्ष हाथी में पाँचों अंगुलियाँ प्रत्येक पैर में होती हैं और सभी व्यवहार्य हैं किन्तु पाँचों बाह्य रूप से स्वतंत्र नहीं होतीं। दूर-दूर पृथक रह कर वे एक संयुक्त त्वचा-आवरण में ही आबद्ध रहती हैं। उनके मध्य के विस्तृत स्थल घने रूप के वंधक सूत्रजालों से भरे होते हैं। वह संयुक्त पदार्थ अंगुलियों की पंक्ति के पीछे तक भी फैला रह कर एक मोटी गद्दी बनाता है। प्रत्येक अंगुली में अगले पैर में एक-एक दीर्घकाय चौड़ा खुर होता है। पिछले पैर में कम से कम तीन या चार अंगुलियों में खुर या भीमकाय नख होते

हैं। इस प्रकार हाथी अपने पैरों पर पड़ने वाले शरीर के अतुल भार को भूमि के अधिकतम क्षेत्रफल के ऊपर प्रसारित कर देता है अश्व तो प्रत्येक पैर के छोर के टापों पर चलता है किन्तु एक-एक पैर में एक-एक टाप होने से उसका गमन कार्य चार टापों पर ही होता है, परन्तु हाथी अपने चारों पैरों के बीस टापों पर शरीर का भार वितरित कर गमन कार्य करता है। इतनी विशेषता अवश्य होती है कि एक-एक पैर के पाँच टापों की रचना इस रूप की होती है कि वे एक विशाल टाप रूप में ही संयुक्त रूप से व्यवहृत होते हैं। प्रत्येक पैर एक सीधा वृहद् स्तम्भवत होता है। अगले पैर की केहुनी के जोड़ से पीछे की ओर तथा पिछले पैर के घुटने के जोड़ पर आगे की ओर झुकाव की विधि अन्य स्तनिनों में प्रयुक्त होती पाई जाती है। किन्तु हाथी का भारी-भरकम शरीर ऐसी विधि का सर्वथा त्याग करने को विवश कर सका है। अन्यथा पैरों पर शरीर का भारी बोझ सँभलना कठिन हो जाता।

हाथी की दन्तावली विचित्र होती है। ऊपरी जबड़े के एक जोड़े कर्तनक हाथीदाँत (बाहर निकले हुए बड़े दाँत) बन गए होते हैं। वे नर में अत्यधिक विकसित होते हैं। परन्तु मादा में अल्प विकसित होते हैं। दिखावे के इस हाथीदाँत की बड़ी प्रसिद्धि है। परन्तु वह दाँत का ही कुछ बदला रूप होता है। ऊपरी आवरण के स्थान पर सिमेंट की अत्यधिक पतली तल मढ़ी होती है किन्तु दन्तवेष्ठ (इनेमल) नहीं होता। इनेमल तो केवल नवोत्पन्न हाथी दाँत के छोर पर ही रहता है। स्थायी हाथी दाँतों के स्थान पर पहले दूध के दाँत ही निकलते हैं जो अस्थायी और अपेक्षाकृत छोटे होते हैं। उनके गिरने पर स्थायी हाथीदाँत उगते हैं। कुछ विलुप्त हस्ती रूप जन्तुओं में निचले जबड़े में एक जोड़ा हाथीदाँत अतिरिक्त हाथीदाँत बना दिखाई पड़ता है। ये निम्न जबड़े के कर्तनक होते

हैं जो प्रस्तरावशेषों में नीचे की ओर झुके मिलते हैं। रदनक दाँतों का हाथी में सर्वथा अभाव पाया जाता है। अपने जीवनकाल में हाथी २४ चर्वणक दाँत प्राप्त करता है। जबड़े में प्रत्येक ओर (एक पार्श्व भाग में) छः ऊपर तथा छः नीचे की ओर उत्पन्न होते हैं। एक पार्श्वहनु के छः चर्वणक दाँतों में से केवल दो ही एक समय उत्पन्न दिखाई पड़ सकते हैं। अनेक समयों पर तो एक पार्श्वहनु में केवल एक चर्वणक ही रहता है। एक विशेष समय पर विद्यमान दो चर्वणक दाँतों में पूर्ववर्ती चर्वणक पूर्णतः विकसित होता है और उसका शीर्षतल व्यवहार के लिए पूर्णतः खुला रहता है। पीछे की ओर का चर्वणक अधूरा ही विकसित होता है और उसका केवल पूर्ववर्ती शीर्ष भाग ही दिखाई पड़ता रहता है। अन्ततः पुराना चर्वणक गिर जाता है और उसकी जगह आगे की ओर वाला चर्वणक पहुँच कर अपना शीर्ष पूर्ण व्यवहार्य बना लेता है। इसी काल में एक आर्थिक रूप का विकसित चर्वणक आगे की ओर स्थान बनाकर पूर्ण व्यवहार्य दूसरे चर्वणक के यौवन काल या व्यवहार्य रूप नष्ट होते हो उसके स्थान पर आसीन होने की तैयारी भीतर ही भीतर करता रहता है। इस तीसरे चर्वणक का भी अभ्युदय तथा व्यवहार्य काल अंततः समाप्त होता है और चौथा चर्वणक उचित स्थान पाने की ओर अग्रसर होता है। इसी तरह बारी-बारी से छहों चर्वणक नाटकीय पट की भाँति एक-एक समय प्रदर्शित दिखाई पड़ते हैं। प्रथम चर्वणक तीन मास आयु के हाथी में पूर्णतः विकसित हो जाता है। पाँचवाँ चर्वणक २० वर्षों या उससे भी अधिक समय पश्चात् व्यवहार में आना प्रारम्भ होता है। चर्वणक दाँतों को जन्तु के अन्य बाह्य रूपों के अनुरूप आकार रखते पाया जाता है। एक वयोवृद्ध हाथी में आगे से पीछे तक चर्वणक के शीर्ष का प्रसार ६ से १५ इञ्च तक लम्बा तथा लगभग

साढ़ेतीन इञ्च चौड़ा पाया जाता है। वे आड़े रूप में उभाड़ रेखाओं युक्त होते हैं।

हाथी का लम्बोतरा मुख या शुँड उसकी विशेषता है। बाह्य नासिका-रंध्र सूँड़ के अगले सिरे पर होते हैं। शुंड प्रबल पेशीयुक्त होती है। छोर पर एक कोमल अँगुली समान उभाड़ होता है। उस उभाड़ से हाथी जहाँ छोटी वस्तुएँ उठाने का कौशल दिखलाता है, वहाँ शुंड की प्रबल पेशियों के बल से भारी-भारी काष्ठ-खंड भी उठा फेंकने या भारी शाखाओं या छोटे-मोटे पेड़ों को समूल उखाड़ फेंकने में समर्थ होता है।

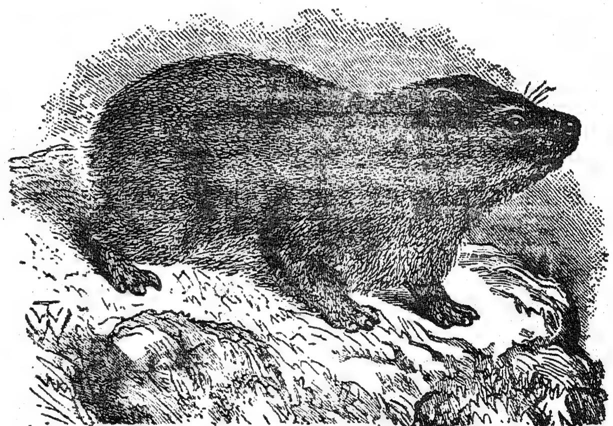
हाथी के कान तो सूप सदृश बड़े आकार के होते हैं, परन्तु पूँछ शरीर के आकार की दृष्टि से तुच्छ होती है। इसका शाकाहारी स्वभाव है। आमाशय सरल रूप का होता है। जुगाली करने की आवश्यकता नहीं होती। त्वचा बड़ी मोटी होती है। उस पर जहाँ-तहाँ ही बाल निकले होते हैं। मस्तिष्क विशेष विकसित होता है। वृहद् मस्तिष्क अत्यधिक लहरियादार तलयुक्त होता है। किन्तु हाथी को अत्यधिक बुद्धिशाली होने की मान्यता देना अतिशयोक्ति ही है।

आधुनिक स्थलजीवी स्तनिनों में हाथी अत्यधिक विशिष्टांगी है। साधारण स्तनिनों के बिल्ली, सिंह, व्याघ्र आदि रूपों की अपेक्षा हाथी के बाह्य रूप में बहुत बेडौलपन है। किन्तु सारे अंगों का इस प्रकार समन्वय है कि पूर्ण शरीर सुडौल ही ज्ञात होता है। इसका भारी शरीर भद्दा नहीं कहा जा सकता। गति धीमी अवश्य है, परन्तु "गजगमनी" की उपमा सम्भ्रान्त एवं मर्यादापूर्ण रमणियों की भव्य गति से तुलना कर हाथी को भी आदर प्रदान करती है। वर्तमान हाथियों की दो जातियाँ पाई जाती हैं, भारतीय तथा अफ्रिकीय। अफ्रिकीय हाथी कुछ बड़ा होता है और उसके

कान भी अपेक्षाकृत दीर्घकाय होते हैं। विलुप्त रूप के हाथी समान मैमथ तथा मैस्टोडोन पूर्वी तथा पश्चिमी दोनों गोलार्द्धों में होते थे। एक लम्ब-रोमीय मैमथ दोनों गोलार्द्धों के उत्तरी शीत भूखंडों में होता था।

भीरुक गण

भीरुक गण ऐसे गौण तथा छोटे जानवरों का वर्ग है जिसके उपयुक्त विभाजन के सम्बन्ध में जटिल समस्याएँ पाई जाती हैं। इनका आकार शशक समान, पैर मझोले आकार के दुम छोटी, कर्ण-आच्छादक चर्म-पट्टिकाएँ बहुत छोटी होती हैं। कर्तनक दाँत



हाइरेक्स

प्रमुख रूप के होते हैं। इन रूपों में कृन्तक नाम पड़ने में कोई आपत्ति नहीं प्रतीत होती किन्तु इनकी दन्तावली कृन्तकों (कुतर कर खाने वाले जन्तुओं) के समान नहीं होती, बल्कि इनकी अपेक्षा

खुर वाले जन्तुओं के अधिक समान होती है। अगले पैर में चार व्यवहार्य अँगुलियाँ होती हैं। पिछले पैर में तीन ही व्यवहार्य अँगुलियाँ पाई जाती हैं। पिछले पैर की प्रथम अँगुली के अतिरिक्त सभी पैरों की शेष अँगुलियों के छोर पर चौड़े, कुन्द शृंगीय पदार्थ होते हैं जो चङ्गुल की अपेक्षा नख या टाप से अधिक समानता प्रकट करते हैं। अपवाद रूप की अँगुली में एक लंबा टेढ़ा चंगुल होता है। पैर पूर्ण भूस्पर्शी होते हैं, किन्तु उनकी कुन्द शृंगीय रचना खुरवाले जन्तुओं के अनुरूप होती है। ये जन्तु शाकाहारी होते हैं। आमाशय दो भागों में विभाजित होता है। पित्तकोष का अभाव होता है।

भीरुक गण की जातियाँ हाइरेक्स तथा डेंड्रा हाइरेक्स हैं। इन दोनों को कोनी नाम भी मिला है। योरप के शशक को भ्रमवश कुछ लोग कोनी कहते हैं किंतु यह भ्रमात्मक ही है। यथार्थ भीरुक गण की जातियाँ केवल पश्चिमी एशिया और उत्तरी अफ्रीका में होती हैं। हाइरेक्स भूजीवी जंतु है, परन्तु डेंड्राहाइरेक्स को वृक्षों के कोटर का निवासी कहा जाता है।

समुद्र-गो गण

समुद्र-गो गण जलजीवी तो अवश्य हैं, परन्तु तिमि (ह्वेल) सदृश जलजीवन के अत्यधिक अभ्यस्त नहीं होते। शरीर अपेक्षाकृत छोटा और मोटा होता है। ह्वेल की अपेक्षा शिर शरीर से विशेष रूप में प्रमुख दिखाई पड़ता है। मध्यवर्ती मत्स्य-पंख का अभाव होता है। आड़े रूप का (क्षैतिज) पुच्छीय मत्स्य पंख (वाज) होता है। स्कंधदेशीय वाज या मत्स्यपंख वाह्य रूप में ह्वेल समान ही होता है। कटिप्रदेशीय वाज (मत्स्यपंख) या भुजा

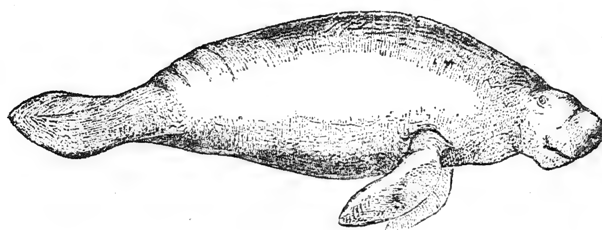
केवल नाम मात्र को होती है और शरीर की दीवाल में चिपकी-सी होती है।

समुद्र-गो गण विषमदन्तीय स्तनिन हैं। कर्तनक नहीं होते। अधिक से अधिक केवल एक जोड़ा ऊपरी जबड़े में हो सकता है जो हाथी दाँत-सा प्रकट हो सकता है। रदनक बिल्कुल नहीं होते। चर्वणक दाँत शुन्डीय जन्तुओं समान होते हैं, विशेषकर एक के लुप्त होकर उसका स्थान दूसरे द्वारा ग्रहण करने की विधि वैसी ही पाई जाती है जिसमें कोई दाँत घिसकर नष्ट हो जाने पर किसी दूसरे पूर्ववर्ती दाँत द्वारा स्थानापन्न होता है। एक अर्द्ध हनु में उत्पन्न हुए सभी चर्वणकों की संख्या २० से अधिक होती है किंतु एक समय छः से अधिक नहीं रहते।

समुद्र-गो गण की त्वचा बड़ी मोटी होती है। बाल लगभग नहीं से होते हैं। दुग्ध ग्रंथियाँ एक जोड़े ही होती हैं जो वक्षस्थल में बिल्कुल आगे की ओर होती हैं। आमाशय विषमरूपी होता है जो जुगाली करने वाले जंतुओं के समान होता है। मस्तिष्क अपेक्षाकृत छोटा होता है। उसमें हल्की लहरें ही बनी होती हैं।

समुद्र-गो गण समुद्रीगो जन्तुओं के विभाग को कहते हैं। ये अटलांटिक, पैसिफिक, भारत सागर के शीतोष्ण तटीय जलखण्डों तथा निकटवर्ती मीठे (अलवणीय) जलों में रहते हैं। इनका आहार समुद्री वनस्पति है। आठ या दस फुट तक शरीर की लंबाई होती है। इसकी दो प्रजातियाँ पाई जाती हैं : (१) मेनाटी और (२) ड्यूगांग।

मेनाटी—इस प्रजाति के जंतुओं में कर्तनक दाँत नहीं होते। ग्रीवा प्रदेश के पृष्ठवंश में केवल सात कशेरुकाएँ होती हैं। स्तनिनों में प्रायः सात कशेरुकाएँ ग्रीवा में होती हैं। अमेरिका तथा अफ्रीका के अटलांटिक तटों पर ये पाये जाते हैं।



मेनाटी

ड्युगांग—इस प्रजाति के जंतुओं में ऊपरी जबड़े में हाथी दाँत समान एक जोड़े कर्तनक होते हैं। ग्रीवा के पृष्ठवंश में अधिकांश स्तनिनों की भाँति सात कशेरुकाएँ होती हैं। दक्षिणी-पश्चिमी पैसिफिक (आस्ट्रेलिया), लाल सागर तथा भारत महासागर (अफ्रीका के पूर्वी तट पर) में ये पाये जाते हैं।

एक तीसरी प्रजाति रीटिना या स्टेलार का समुद्रगो वयस्क रूप में दन्तहीन कही जाती थी जो उत्तरी पैसिफिक में अठारहवीं शताब्दी तक पाई जाती थी किंतु तब से इस समुद्रगो का नाम पुनः न सुनाई पड़ा।

तिमिगण

तिमिगण में तिमि या ह्वेल प्रमुख जंतु है। इस गण के जंतु जलजीवी होते हैं। उनमें से बहुतेरे भीमकाय होते हैं। ८५ फुट या इससे भी लम्बे आकार के जलजीवी स्तनिन पाये जा सके हैं। आज तक ज्ञात सभी स्तनिनों से यह लम्बा रूप है। इनका बाह्य रूप मछलियों-सा होता है। बाहर की ओर ग्रीवा का कोई स्थान नहीं ज्ञात होता। ग्रीवा की रचना अन्य स्तनिनों की भाँति सात कशेरुकाओं से अवश्य हुई रहती है, परन्तु वे बहुत छोटी होती हैं

और प्राय: परस्पर जुट कर एक अस्थिखंड-सा बन गई रहती हैं। पुच्छीय मत्स्यपंख मत्स्य में खड़ा होता है, परन्तु तिमिगणों में आड़ा होता है। एक पृष्ठीय मत्स्यपंख (वाज) प्राय: विद्यमान रहता है किन्तु वह आंतरिक कङ्कालहीन होता है। वक्षस्थलीय भुजाएँ छोटी, चौड़ी और बाह्य रूप में मत्स्यपंख (वाज) समान होती हैं किन्तु आंतरिक रूप में पंचांगुलीय के कङ्काल भाग सन्निविष्ट रखती है। चार या पाँच अँगुलियाँ एक ही त्वचा से पूर्णत: आबद्ध भीतर बन्द पड़ी रहती हैं। कटिप्रदेशीय पाद कटिप्रदेशीय अस्थियों में सम्मिलित नाममात्र का रूप रखते हैं, वे शरीर की दीवाल में सन्निविष्ट ही होते हैं।

तिमिगणों की त्वचा कड़ी और वयस्कों में प्राय: रोमहीन होती है। वसा की मोटी तह त्वचा के अन्दर रह कर उस स्तनपायी उष्णरक्तीय (या स्थिर ताप-रक्तीय) के शरीर की उष्णता सतत जल के अंदर रहने पर रक्षित रखती है। बिल्कुल पीछे की ओर एक जोड़े स्तन होते हैं। सिर के ऊपरी मध्यवर्ती भाग में बाह्य नासारंध्र होते हैं। इसका आमाशय विषमरूपी होता है। वह कई भागों में विभाजित होता है। मस्तिष्क अपेक्षाकृत बड़ा होता है तथा बृहद् मस्तिष्क अत्यधिक लहरियादार होता है।

तिमिगणों को दो उपगणों में विभाजित माना जाता है: (१) दन्तीय, (२) तिमि-अस्थीय।

दन्तीय उपगण—इस उपगण में दन्तहीन तिमि प्रसिद्ध है। वह मांसभक्षी जलजीवी स्तनिन है। दन्तावली बहुसंख्यक रूप में एक समान दाँत ही होने से समदन्तीय होती है। दाँतों का रूप सरल शंकुवत होता है। विशेष रूपों में दाँतों की संख्या न्यून होकर कुछ जोड़े ही या केवल एक जोड़ा भी हो सकती है। बाह्य नासारंध्र भीतर जाकर एक छिद्र में मिलते हैं। दन्तीय उपगण में स्पर्म ह्वेल,

चंचुधारी ह्वेल, बोतल-नासिका, शिशुमार (डाल्फिन) तथा सूंस (पारपायजेज) गिने जाते हैं।

तिमि-अस्थीय उपगण—ह्वेलबोन ह्वेल नाम का जन्तु इस उपगण में विशेष प्रसिद्ध है। इस जाति में दाँत नहीं होते परन्तु उसका स्थानापन्न जो पदार्थ होता है वह ह्वेलबोन या अस्थितिमि कहे जाने पर भी यथार्थ में अस्थि-खंड नहीं होता। फिर भी नाम उसके पुराने रूप में प्रसिद्ध हैं और ये जलजीवी स्तनिन भी उसी भ्राँतिपूर्वक नाम पर प्रसिद्ध हैं। वयस्कों में दाँत का अभाव होता है। शृङ्गीयपट्टिका उसके स्थान पर होती है जिसके निचले छोर बहु-छिद्रमय होते हैं। वे झालर की तरह ऊपरी जबड़े से नीचे लटके रहते हैं। इस चलनी रूपी उपकरण से इन जन्तुओं को आहार प्राप्त करने में सहायता प्राप्त होती है। मुख के छिद्र में पानी भर लेने पर छोटे-छोटे जलजीव भी पहुँच गए होते हैं, परन्तु मुख के जबड़े बन्द होकर छिद्रीय शृङ्गपट्टिका या ह्वेलबोन की पट्टी से पानी को बाहर निकल जाने का मार्ग दे देते हैं, जीव-जन्तु पीछे मुँह में ही पड़े रह जाते हैं। उन्हें ह्वेल उदरस्थ कर लेता है। इसकी कई जातियाँ होती हैं।

तिमिगणों का प्रसार भूमध्य रेखा से लेकर दोनों ध्रुवीय प्रदेशों तक है। कुछ क्षुद्रकाय तिमिगण की जातियाँ मीठे अलवणीय जल में एशिया तथा अफ्रिका की बड़ी नदियों में पाई जाती हैं।

नर-वानर गण

जन्तुओं के वर्णन में मनुष्य का नाम भी घसीट लिया जाता है। क्या किया जाय, प्रकृति का विधान ही ऐसा है कि मनुष्य भी जन्तु-जगत के एक विभाग में, किन्तु विशेष उच्च पद पर विराज-मान है। स्पर्द्धा के कारण हम जन्तु-जगत के सभी वर्गों में श्रेष्ठ

स्तनपोषी या स्तनिन वर्ग के अन्य सभी जन्तुओं को अत्यन्त हीन ही स्थान दे सकते हैं, फिर भी जन्तु-शास्त्रियों के विवेचन क्षेत्र में मनुष्य अपना स्थान स्तनपोषी जन्तु वर्ग में ही पाता है। भावनाओं में बहकने का कोई प्रश्न नहीं है। जन्तु-शास्त्रियों ने तो शरीर-रचना, तथा प्राचीन विकास-क्रम की प्राचीन प्रस्तरावशेषों तथा आधुनिक दृष्टि से कङ्कालों का तुलनात्मक रूप में अध्ययन कर सभी जन्तुओं का सृष्टि में स्थान ज्ञात करने के प्रयत्न में मनुष्य को भी जन्तु-जगत् के विकास-सोपानों में से किसी एक की अंतिम शृङ्खला-सा ज्ञात किया है। यह शृङ्खला स्तनपोषी वर्ग में नर-वानर गण नाम से ज्ञात है। प्राइमेट्स शब्द इसी गण का द्योतक है। यदि सच पूछा जाय तो नर-वानर गणों का अन्य स्तनपोषियों से कोई ऐसा विलक्षण रूप नहीं ज्ञात होता जिससे इसकी कोई बहुत स्पष्ट परिभाषा हो सके। तिमि या ह्वेल को स्थान देने वाले तिमिगण की विशिष्ट रूपता प्रमुख है। चमगीदड़ों को सन्निविष्ट करने वाले चर्मचटक गण की पहचान बता सकना बहुत सुगम है। खुर वाले स्तनपोषियों के गण उपगण अपनी विशेषताएँ बताने में बहुत कष्ट नहीं देते परन्तु नर-वानर गण की स्पष्ट पहचान कराने वाला क्या लक्षण कहा जाय। सभी नर-वानर गण पंचांगुलीय होते हैं। द्विपद होना या खड़े होकर चलना कुछ नर-वानरों का ही लक्षण है। अधिकांश नर वानर गण तो चारों पैरों पर ही चलने के अभ्यस्त हैं। सभी के पैर पूर्ण भूमिस्पर्शी हैं। दन्तावली पूर्ण होती है, परन्तु किसी भी एक प्रकार के दाँत का कोई विशिष्टतापूर्वक विकास नहीं हुआ रहता। स्तनपोषियों समान विषमदन्ती रूप की दन्तावली होती है।

दाँतों की विशिष्टता तो कीट भुज जन्तुओं से भी न्यून होती है। आमाशय प्रायः सरल होता है। शरीररचना-भेद की बहुत अधिक खोजबीन की जाती है तो केवल इतना पता चलता है कि

अङ्गुलियों में टाप या चंगुल होने के स्थान पर चपटे नख होते हैं किन्तु एक तो यह कितनी छोटी-सी बात है, दूसरे इसके अपवाद भी हैं। एक दूसरी विशेषता पैर या हाथ या दोनों के अँगूठों का शेष अँगुलियों के विपरीत दिशा में मुड़ सकना है। अँगूठे के दूसरी ओर शेष अँगुलियों के विरुद्ध मुड़ सकने से हम कोई वस्तु हाथ से बहुत दृढ़ता से पकड़ सकते हैं। वानरों में तो पैर के अँगूठे भी इसी तरह विरुद्धगामी हो सकने से पैर को यथेष्ट ग्रहण-शक्ति प्रदान करते हैं। किंतु कुछ जातियाँ नर-वानर गण में ऐसी भी हैं जिनके हाथ या पैर के अंगूठे विपथगामी नहीं होते। ऐसी अवस्था आदिम रूप के नर-वानर गणों में होती है। नर-वानर गणों की मनुष्य जाति ऐसी है जो वृत्तजीवी न होकर भी हाथ के अँगूठे की विपथ-गमनीय शक्ति बहुत अधिक सुविधाजनक पाती है। एक विशेषता यही है जो किसी नई दिशा की नवीन विशिष्टता नहीं होती, बल्कि अन्य स्तनिनों में भी वृहद् विकसित रहती आई है। यह मस्तिष्क का लहरियादार रूप है। यह बात उल्लेखनीय है कि मस्तिष्क की विशिष्टता में नर-वानर गण के बहुत से वंश अन्य गणों के स्तन-पोषियों से हीन पाए जाते हैं। लेमूरों में कुछ जातियाँ ऐसी हैं जिनकी गिनती नर-वानर गण के स्थान पर कीटभुज में भलीभाँति की जा सकती है, किन्तु केवल यह बात पाई जाती है कि लेमूरों में कुछ अँगुलियों में चपटे, शृङ्गीय नख समान कोई वस्तु होती है, और औसत से बड़ा रूप होता है और कुछ वानरों सा साधारण रूप झलकता है, इन बातों के ही कारण वे नर-वानर गण में गिने जाते हैं।

नर-वानर गण तीन उपगणों में विभाजित हैं: (१) लेमूररूप उपगण, (२) टार्सियसरूप उपगण, (३) नररूप उपगण।

लेमूररूप—इस उपगण के स्तनिन क्षुद्राकार होते हैं, परन्तु कुछ

बिल्ली के बराबर या उससे कुछ बड़े हो सकते हैं। अधिकांश वृक्ष-जीवी तथा रात्रिचर होते हैं। साधारण रूपरेखा कुछ-कुछ वानरों सी जान पड़ती है। आँखें पार्श्वाभिमुखी होती हैं। मस्तिष्क अपेक्षाकृत छोटा होता है। उस पर लहरें बहुत थोड़ी होती हैं। इसकी अँगुलियों में नख तथा चङ्गुल के विभिन्न पचमेल या मध्यवर्ती रूप पाए जाते हैं किन्तु पिछले पैर की दूसरी अङ्गुली में सदा ही चङ्गुल होता है तथा अँगूठे में सदा ही नख होता है। पूँछ लम्बी होती है, परन्तु उसमें ग्राह्य शक्ति नहीं होती। वक्षस्थल में एक जोड़े स्तन होते हैं।

इस उपगण के उदाहरण लेमूर हैं जो दक्षिणी एशिया, पूर्वी द्वीप समूह, फिलीपाइन, अफ्रिका, विशेषकर मडागास्कर में बहुसंख्यक पाए जाते हैं।

टार्सियसरूप—इस उपगण के जन्तुओं का आकार एक छोटी गिलहरी (कलन्दक) के बराबर होता है। वृक्षजीवी तथा रात्रिचर होते हैं। लेमूरों से रूप मिलता है। पिछले पैर बड़े होते हैं। पूँछ बड़ी, लम्बी होती है जिसके सिरे पर लम्बे बालों का गुच्छा होता है। आँख अनुपात से बहुत ही बड़ी होती है। वह गोल तथा सम्मुखवर्ती होती है। लेमूरों की अपेक्षा इनका मस्तिष्क अधिक विकसित होता है। आधुनिक काल में एक जीवित प्रजाति ही टार्सियस नाम की है। ये जन्तु पूर्वी द्वीपसमूह और फिलीपाइन में पाए जाते हैं। लेमूरों तथा टार्सियस को कभी-कभी सम्मिलित रूप में प्रोसिमी उपगण नाम से पुकारते हैं।

नररूप उपगण—ये जन्तु अधिकांशतः लेमूर से बड़े होते हैं। नेत्र सम्मुखवर्ती होते हैं। मस्तिष्क अपेक्षाकृत बड़ा होता है। वृहद मस्तिष्क अधिक लहरियादार होता है। प्रायः सभी अँगुलियों पर



टार्सियर

चपटे नख होते हैं। हाथ का अँगूठा और किसी-किसी जाति में

पैर का अँगूठा भी शेष अँगुलियों की विरुद्ध दिशा में मुड़ सकने वाला होता है। वक्षस्थल में एक जोड़े स्तन होते हैं।

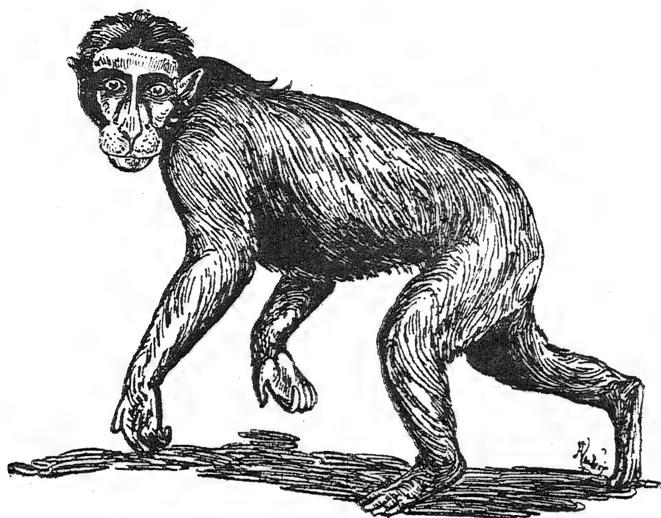
नररूप उपगण के दो खंड माने जाते हैं—(१) अनुत्तुंग-नासामंचीय, (२) उत्तुंगनासामंचीय।

अनुत्तुंगनासामंचीय—नासिका का मञ्च या ऊपरी तल चौड़ा होता है तथा नासारंध्र थोड़े बहुत पार्श्वमुखी होते हैं। सब अँगुलियों पर चपटे नख होते हैं, परन्तु मारमोसेट जन्तु इसका अपवाद है। उसमें नख के स्थान पर पैर के अँगूठे को छोड़कर शेष सभी अँगुलियों में चङ्गुल होते हैं। पूँछ लम्बी तथा प्रायः ग्राही होती है। नख के विपरीत नखर शब्द का अर्थ चंगुल लिया जाता है; अतएव मारमोसेट को अँगुलियों में चंगुल रखने के कारण नखर कपि कह सकते हैं। चौड़ी नाक के नर-वानर गणों की जाति के इस खंड के दो वंश कहे जा सकते हैं, (१) नखर कपि वंश (२) पाताल कपि वंश। ये दोनों वंश केवल मध्य तथा दक्षिणी अमेरिका में पाये जाते हैं।

उत्तुंगनासामंचीय—नासिका का मञ्च पतला होता है। नासारंध्र सम्मुख तथा निम्नवर्ती ही अधिक होते हैं। सभी अँगुलियों पर नख होते हैं। पूँछ लम्बी, छोटी या सर्वथा लुप्त हो सकती है किन्तु कभी ग्राही नहीं होती। इसके तीन वंश माने जाते हैं।

पुच्छीय कपि वंश—इसमें मैकेक, बैबून, लंगूर, वानर आदि हैं जो अफ्रिका तथा एशिया में पाये जाते हैं।

विपुच्छ कपि—सब से छोटे आकार का विपुच्छ कपि गिब्बन होता है जो केवल मलाया में मिलता है। ओरेंगउटन बोर्नियो तथा सुमात्रा में पाया जाता है। गोरिल्ला, चिंपेंजी अफ्रीका में मिलते हैं।



विपुच्छ कपि

मानव वंश—पूर्वी गोलार्द्ध में ही इसका जन्म माना जाता है। प्राचीन प्रस्तरावशेष बहुत ही न्यून तथा कठिनाई से प्राप्त होते हैं। अतएव शोधकार्य से थोड़ी-थोड़ी बातें ही जन्म, विकास आदि की ज्ञात की जा रही हैं।

विषमांगुलीय (विषमशफीय)

(अश्व, टापिर, गेंडा आदि)

कुछ जन्तुओं में पैर की अँगुलियाँ टाप या खुर में सन्निविष्ट हो सकती हैं या टाप या खुर रूप के नखों से आच्छादित होती हैं। टाप या खुर को शफ भी कहते हैं। अतएव विषमसंख्या की अँगुलियों के कारण एक, तीन, या पाँच अँगुलियों के या टापों के जन्तुओं को विषमांगुलीय या विषमशफीय कह सकते हैं। इनके विपक्ष समसंख्या की टाप या शफयुक्त अँगुलियों के जन्तुओं को समांगुलीय या समशफीय कह सकते हैं। पहले ये सब जन्तु दो विभागों में नहीं माने जाते थे। उन्हें केवल टाप वाले या शफीय जन्तु (अनगुलाटा) कहा जाता था। वैज्ञानिकों ने अब पृथक्-पृथक् दो स्वतन्त्र वर्ग मान लिए हैं। विषमशफीय जन्तुओं में गेंडा, टापिर, अश्व आदि की गणना होती है। ये जन्तु जुगाली नहीं करते। आमाशय सरल रूप का होता है। इनमें यदि सींग होती भी है तो थूथन पर ही। किसी अस्तित्वहीन वस्तु को गधे की सींग से उपमा देने की उक्ति प्रसिद्ध ही है।

विषमशफीय जन्तुओं में एक शफ या एक टाप के जन्तु गधे, जेब्रा, अश्व आदि लम्बी गर्दन तथा लम्बे पैर रखते हैं। प्रत्येक पैर में केवल एक व्यवहार्य अँगुली होती है जिसका रूप टाप या शफ रूप में समाप्त होकर भूमि स्पर्श करता है। शेष विषमशफीय जन्तुओं में भी शरीर का भार मुख्यत: बिचली उँगली पर पड़ता

है। अश्ववंशी जन्तुओं की दंतावली विशिष्ट होती हैं। ऊपरी तथा निचले हनु के कर्तनक (या आगे दिखाई पड़ने वाले) दाँत चपटे शीर्ष युक्त होते हैं और चर्वणक दाँतों से बीच में विस्तृत रिक्त स्थान द्वारा पृथक होते हैं। इस वंश के सभी जन्तु सजग इन्द्रियाँ, तीव्रगति तथा कष्टसहिष्णुता के साथ-साथ समाजप्रिय वृत्ति रखते हैं।

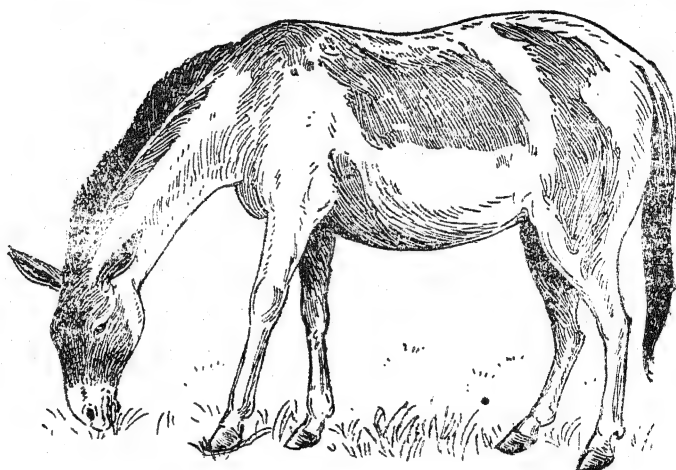
पालतू अश्व सभी वन्य जातियों से विभिन्नता प्रकट करने के लिए बालों के पूर्ण विकसित लम्बे अयाल (केशर) रखता है। कदाचित् मध्य एशिया में इसकी उत्पत्ति हुई थी।

अधिकांश विषमशफीय दीर्घकाय होते हैं तथा उनका सबसे बड़ा डीलडौल उन उष्णतर देशों में ही पाया जाता है जहाँ घास की बहुलता होती है। इनके प्राचीन प्रस्तरावशेष इतने अधिक सुलभ हो सके हैं कि इनकी उत्पत्तिकाल से ही विभिन्न विकसित रूपों का निदर्शन हो सका है। इनकी उत्पत्ति मिओसीन काल में आज से दो करोड़ वर्षों पूर्व हुई थी, परन्तु प्रस्तरावशेषों के प्रमाण से उतने प्राचीन काल से विकसित होने वाले रूपों का ज्ञान सम्भव हो सका है।

प्रथम आदिम अश्व श्वान के बराबर डीलडौल का था तथा उसमें चार पादांगुलियाँ प्रत्येक पैर में होती थीं। दलदली या जल-मग्न स्थलों में जीवन-यापन के लिए पैरों की वैसी रचना बहुत उपयुक्त थी। क्रमागत रूप से विकास-श्रेणियों को अविच्छिन्न रूप में पाकर पादांगुलियों या शफों के शनैः-शनैः लुप्त होते जाने के प्रमाण प्राप्त होते हैं। यह जन्तु धीरे-धीरे जलमग्न स्थानों से जिस प्रकार अपेक्षाकृत शुष्क भूभागों में रहने का अभ्यस्त होता गया, उसी प्रकार पादांगुलियों की संख्या भी कम होने लगी। खुले मैदान में तो उसका वेग ही रक्षा का मुख्य साधन हो सकता था।

पालतू अश्व का पूर्वज आज मंगोलिया के टार्पन प्रजेवाल्स्की अश्व के समान अश्व ही माना जाता है। यह ठिगना और मोटा होता है और घने कबरे बाल शरीर पर आच्छादित होते हैं।

अश्व और गर्दभ शारीरिक रचना में थोड़ा-सा अन्तर प्रदर्शित करते हैं। क्यांग अथवा तिब्बती गधा तो डील-डौल में औसत घोड़े

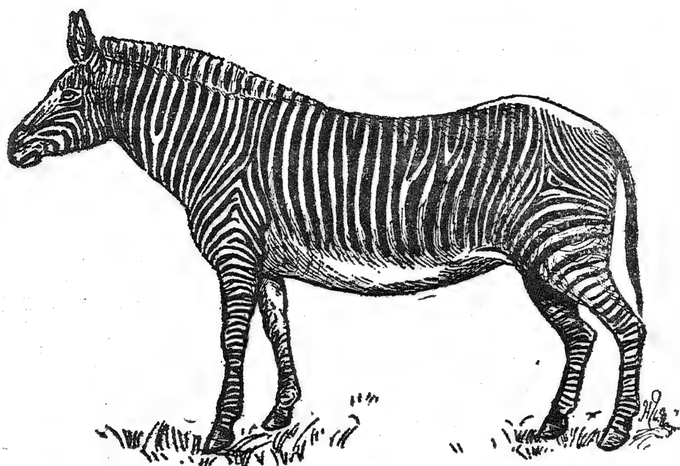


क्यांग

के बराबर होता है और शफधारी या टाप वाले जन्तुओं में तीव्रतम वेग के जन्तुओं में गिना जाता है।

जेब्रा की कई जातियाँ होती हैं। उनमें ग्रेवी नाम की जाति के जेब्रा या पट्टित गर्दभ का १८८२ तक ज्ञान नहीं हो सका था। यह सबसे बड़े डील-डौल का जेब्रा होता है। यह कन्धे के निकट घोड़े समान ४ फुट तक ऊँचा होता है। अबीसिनिया तथा पूर्वी ब्रिटिश अफ्रीका में पाया जाता है। बर्चेल जेब्रा दूसरी जाति का नाम है।

यह ठिगने डील-डौल का तथा मोटा होता है। यह अफ्रिका में अबीसिनिया से लेकर पूर्वी अफ्रिका तथा दक्षिण में आरेंज नदी



जेब्रा

तक पाया जाता है। पहाड़ी जेब्रा दक्षिण पूर्वी अफ्रिका में पाया जाता है। पहाड़ी जेब्रा तथा बर्चेल जेब्रा की जातियाँ ही प्रायः बन्दी रूप में रहने पर भी शिशु उत्पादन करती हैं।

जेब्रा प्रायः बीस से लेकर दो सौ तक के झुण्डों में रहता है। यही नहीं, बल्कि सब तरह के स्थिरशृंगी हरिण, शुतुर्मुर्ग तथा जिराफ भी इनके दलों में हिले-मिले रहते हैं। इन सबका संघ प्रायः एक मात्र शत्रु, सिंह से रक्षा पाने की इच्छा से एकत्र रहता है। जेब्रा बड़ी उच्छृंखल वृत्ति का जन्तु है। इसे पालना बड़ा कठिन कार्य होता है। एक जेब्रा तो कठघरे की छाजन की बल्ली दाँतों से पकड़ कर लटक जाया करता था।

जेब्रा का शब्द गधे के रेंकने तथा कर्कश चिंघाड़ने के मध्य का होता है। सन्तानोत्पादन काल में नर जेब्रा अपने अगले पैरों तथा लम्बोतरे रदनक दाँतों से परस्पर तुमुल युद्ध करते हैं।

अश्व वंश के जन्तुओं का महत्व आज के यान्त्रिक युग में यथेष्ट है। संसार के अधिकांश भूभाग यातायात या अन्य कार्यों में यन्त्रों का प्रचुर उपयोग करने से वंचित ही हैं। वहाँ अश्ववंशीय जन्तु बहुत ही उपयोगी होते हैं। दुर्गम पार्वत्य प्रदेशों में भी इनकी उपयोगिता प्रकट होती है।

अश्व वंशी सभी जन्तुओं में एक विचित्रता पाई जाती है। अगले पैरों में घुटने के ऊपर पीछे की ओर एक शृंगीय अर्बुद होता है। पिछले पैरों में यह गुल्फ (टखने) के नीचे होता है। उसमें से एक चिपकन द्रव निकलता है। यदि अर्बुद चीरकर उस चिपकन द्रव को निकाला जाय तो तुरन्त ही अन्य अश्ववंशी जन्तु निकटवर्ती होने पर उस ओर आकर्षित हो जाते हैं। उससे कुत्तों में मादकता का प्रभाव उत्पन्न होता है। पूर्व काल में इसका प्रयोग कुछ औषधि के रूप में भी लोग करते थे। यह पहले कभी व्यावहारिक गन्ध ग्रन्थि रही होगी जिसका केवल नाम-मात्र इस रूप में शेष रह गया है।

टापिर वंश ऐसे वंश का लुप्तप्राय रूप है जिसका पहले संसार में व्यापक क्षेत्रों में प्रसार था। नष्ट होते-होते केवल एक जाति मलाया में शेष रह गई तथा तीन जातियाँ दक्षिणी अमेरिका में शेष रह सकीं। ये भारी-भरकम शाकाहारी जन्तु हैं। प्रत्येक पैर में तीन पादांगुलियाँ होती हैं। दलदली या जलमग्न भूमि के निवासी जन्तु के लिए यह उपयुक्त रूप का पैर होता है। इसकी मोटी त्वचा पर विरल रूप के बाल उगे होते हैं। एक बार में एक शिशु जन्म

लेता है। सभी टापिर अरक्षित होते हैं, मन्द गति से ही भाग सकते हैं। उनकी मुखध्वनि सादे रूप का रंभण होती है।

ब्राजील का टापिर अपेक्षाकृत छोटा होता है। शुण्ड भी छोटा होता है। यह दक्षिणी ब्राजील, उत्तरी अर्जेंटाइना, पेरू, गाइना और वेनेजुएला के प्रायः पहाड़ी भागों में रहता है।

मध्य अमेरिका में डोविज टापिर तथा बैर्ड टापिर नाम की जातियाँ दीर्घकाय होती हैं। कंधे के निकट तीन फुट ऊँचा कद होता है।

मध्य एशिया में आज भी वन्य अश्व बहुसंख्यक होते हैं। एशिया के सभी वन्य गर्दभ एक जाति के ज्ञात होते हैं। इन सब के पृष्ठ भाग पर एक गहरे रंग की पट्टी होती है। उत्तरी-पूर्वी अफ्रीका के वन्य गर्दभ में भी एक स्कंधदेशीय पट्टी होती है तथा पैरों पर भी पट्टियाँ होती हैं। दक्षिणी और पूर्वी अफ्रिका में जेब्रा का निवास है। उत्तरी अफ्रिका के जेब्रा में बहुत पतली रंगीन पट्टियाँ होती हैं किन्तु दक्षिणी अफ्रिका के पहाड़ी जेब्रा में चौड़ी पट्टियाँ होती हैं तथा कटिप्रदेश पर झँझरीनुमा पट्टी होती हैं। क्वेग्गा में केवल अगले पैरों की ओर ही पट्टियाँ होती थीं परन्तु वह जाति अब विलुप्त हो गई है। किसी समय दक्षिणी अफ्रिका के उत्तमाशा अंतरीप (केप) क्षेत्र में इसकी बहुसंख्यक जाति विद्यमान थी परन्तु काल के चपेट ने इसकी जाति का आज लोप ही कर दिया है।

टापिर वंश की केवल एक प्रजाति है। उसमें भारी रूप की विचित्रता यह है कि एक जाति केवल मलाया में ही पाई जाती है किन्तु दूसरी जातियाँ संसार के दूसरे कोने में दक्षिणी अमेरिका में पाई जाती हैं। खच्चर के बराबर इनका आकार होता है। ये प्रायः पुच्छहीन पुष्टकाय जंतु हैं। एक छोटे शुंड के समान थूथन निकला होता है। ये लज्जालु, जलजीवी जंतु हैं तथा घोर जंगलों

में रहते हैं। इसलिए कठिनाई से ही दिखाई पड़ते हैं। मलाया का टापिर सुमात्रा तथा बोर्नियो में भी मिलता है। इस जाति के टापिर का सिर गर्दन, कंधे आदि अग्रभाग छोटी नाम मात्र की दुम तथा पैरों का रंग काला तथा शेष शरीर का श्वेत होता है। दक्षिणी तथा मध्य अमेरिका की टापिर जाति का शरीर पूर्णतः कलौंछ (काला मिश्रित) भूरे रंग का होता है। किन्तु दोनों जाति के शिशु भूरे रंग की पृष्ठभूमि पर श्वेत रंग के धब्बे तथा पट्टियों से भली भाँति सज्जित होते हैं। वय प्राप्त होते जाने पर उनका रंग बदलता है।

गंडक (गेंडा) वंश के जंतुओं का रूप स्थलजीवी स्तनपोषी जंतुओं में आकार की सर्वाधिक विशालता में द्वितीय होता है। सभी गेंडों में प्रत्येक पैर में तीन टापयुक्त (शफीय) अँगुलियाँ होती हैं। नासिका पर एक या दो शृंग होते हैं। ये शृंग कपाल की अस्थियों से असम्बद्ध होते हैं और केवल बालों समान घने रेशोंयुक्त तन्तुओं से बने होते हैं। रदनक का इनमें अभाव होता है, परन्तु कर्तनक दाँत प्रत्येक हनु में दो हो सकते हैं या उनका भी अभाव हो सकता है। बड़े चर्वणक (चहू के) दाँत घास-पात चबाने के उपयुक्त होते हैं। ये पूर्णतः शाकाहारी होते हैं। इनकी जातियाँ रक्षित करने की राष्ट्रीय विधियाँ घोषित होने पर भी संसार से उनका लोप हो रहा है। चीन देश में तो उसकी सींग का औषधि रूप में प्रयोग करने से चिकित्सा में सफलता प्राप्त करने का अन्ध-विश्वास प्रचलित था, इस कारण इसका बहुसंख्यक आखेट होता था। एशिया में सबसे वृहद् आकार का गेंडा भारतीय जाति का होता है। उसका आकार लगभग ६ फुट ऊँचा, १४ फुट लम्बा होता है। इसकी नग्न, उभाड़ों युक्त त्वचा में गहरे मोड़ होते हैं। थूथन पर केवल एक सींग होती है जो दो फुट से बड़ी नहीं होती। भार-

तीय गेंडा का उत्तर भारत में पहले व्यापक प्रसार था, परन्तु अब नेपाल, उत्तरी बंगाल तथा आसाम के घने जङ्गलों में ही यह जन्तु पाया जाता है। जावा का गेंडा दूसरी जाति का है। वह एक-श्रृंगीय ही होता है। साढ़े पाँच फुट ऊँचा होता है। केवल नर में ही सींग होती है जो १०$\frac{३}{४}$ इञ्च से अधिक लम्बी नहीं हो सकती। उसके शरीर की त्वचा में मोड़ों की दूसरी व्यवस्था होती है। जावा के एकश्रृंगीय गेंडा विलुप्त हो रहे हैं। ये केवल आसाम, बर्मा, मलाया, सुमात्रा और जावा की नीचे तल की भूमियों में पाये जाते हैं। किसी जन्तु की संख्या जब अत्यल्प हो जाती है तो उसकी रक्षा करने के मानवकृत प्रयत्न तथा बध-निषेधाज्ञाओं से विशेष सफलता नहीं मिलती। उनका लोप होकर ही रहता है। गंडक की प्रायः छः जातियाँ ज्ञात हैं। अफ्रीका और एशिया में ही ये पाई जाती हैं। इनके विशाल एशियाई रूप की जाति में खाल की मुटाई डेढ़ इंच होती है जो प्रायः मोड़ों रूप में होती है। आज के गंडक तो केवल थोड़े क्षेत्र में उस वंश के अवशिष्ट रूप रह गए हैं जो किसी पूर्वकाल में बहुसंख्यक तथा विश्व-व्याप्त था। सर्वप्रथम रूप के गंडकों का आकार आज के टापिरों से कुछ ही बड़ा था। उनका शरीर अश्वों की भाँति लम्बोतरे पैरों का था जिससे वेगपूर्वक भाग सकने में समर्थ थे। जब इसकी जातियाँ योरप, एशिया, तथा कुछ अंश में अमेरिका में भी फैलीं तो उनमें आश्चर्यजनक रूप के परिवर्तन होने प्रारम्भ हो गये। कंसा (अमेरिका) से ऐसे रूप के गेंडा का प्रमाण मिला है जिसका शरीर लम्बोतरा था तथा पैर ठिगने थे। साइबेरिया में एक दूसरा प्रस्तरावशेष प्राप्त हुआ है जो भीमकाय था तथा उसके नेत्रों के मध्य एक वृहद् सींग थी। इस एकश्रृंगी गंडक के साथ द्विश्रृङ्गी गंडक का भी अत्यन्त उत्तर भूभागों में

प्रसार हुआ जहाँ वे रेनडियर की तरह काई खाकर जीवन यापन कर सकते थे। उनके शरीर पर लाल रङ्गयुक्त भूरे रंग से घने बाल उगे होते थे। बिलोचिस्तान से एक शृंगहीन जाति के गंडक का प्रस्तरावशेष प्राप्त हुआ है जिसे बलूचीथेरियम नाम दिया जाता है। आज का साधारण गंडक कई टन भार के शरीर का होता है। परन्तु बलूचीथेरियम तो सबसे दीर्घकाय स्थलगामी पशुओं में से एक गिना जाता है। कन्धे के निकट इसकी ऊँचाई चौदह फुट थी। यह भूमि से चौबीस फुट की ऊँचाई के पेड़-पौधों की पत्तियाँ भी खा सकता है।

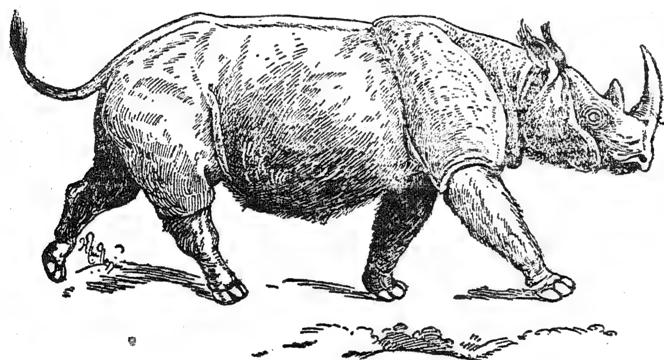
मनुष्य की उन्नति के साधनों, अस्त्र-शस्त्रों, यातायात के साधनों की प्रगति के कारण संसार से अनेक पशुओं की संख्या न्यून हो चुकी है। गेंडा भी ऐसे प्रभावों से अत्यधिक प्रभावित हो सका है। जब तक संसार के बहुत से भूभागों में मनुष्य की पहुँच दुर्गम रही है तब तक गंडक की अनेक जातियाँ अज्ञात ही रही हैं। सत्रहवीं शताब्दी के पूर्व तक तो केवल भारतीय गेंडे की जाति ही संसार की एकमात्र गेंडे की जाति मानी जाती थी।

भारतीय गेंडे की सतर्कतापूर्वक रक्षा के प्रयत्न किए गए हैं। अतएव वह उत्तर-पूर्व भारत के सीमित क्षेत्र में आज भी जीवित है। भारतीय जाति के गेंडे की स्पष्ट पहचान यह है कि उसमें कवच समान त्वचा के मोड़ होते हैं। यह ५, ६ फुट ऊँचा होता है। औसत आयु ३५ वर्ष होती है।

गंडक को एशियाई देशों के प्राचीन लोग अपने अन्धविश्वासों के कारण सदियों तक अभीष्ट जन्तु मानते रहे हैं। इसकी सींग से अनेक व्याघात दूर होने का विश्वास किया जाता था। ताबीज को गंडा नाम दिया गया है जो बाहों या गले में धारण करने पर कोई व्याधि या प्रेत-बाधा दूर करने में कार्यकर समझा जाता है।

कदाचित यह नाम गेंडा (गंडक) की सींग का खंड किसी वस्तु में लपेट कर बाँधने के कारण प्रसिद्ध है। लोगों का यहाँ तक विश्वास था कि गेंडे की सींग से बनी प्याली में कोई भी विषाक्त द्रव रखने पर तुरन्त पहचाना जा सकता है। सींगचूर्ण कर वाजीकरण या शक्तिवर्द्धक औषधि के समान माना जाता था। चीन में भी ऐसे अंधविश्वासों की कमी नहीं थी।

एशिया के द्विश्रृंगीय गेंडा की एकमात्र जाति सुमात्रा गंडक की है। उसके शरीर पर ठिगने बालों का आवरण होता है। आकार ४½ फुट ऊँचा ही होता है। यह थोड़ी संख्या में बोर्नियो, मलाया, बर्मा तथा बंगाल में भी पाया जाता है। अफ्रीका की दो जातियाँ



द्विश्रृंग गंडक

त्वचा के मोड़ तथा कर्तनक दन्त रहित होती हैं। उनमें दो सींगें थूथन पर होती हैं। श्वेत द्विश्रृंगीय गेंडा यथार्थ में स्लेटी धूसर रंग का होता है। वह गंडकवंश में सब से वृहदाकार होता है। स्कंध प्रदेश के निकट ६½ फुट ऊँचा होता है। सामने की सींग मादा में प्रायः बड़ी होती है। उसकी लम्बाई ५ फुट २½ इञ्च तक

पाई जा सकी है। थूथन चौकोर छोरयुक्त होता है। घास इसका मुख्य आहार है। दक्षिण अफ्रीका में पहले यह बहुसंख्यक पाया जाता था, परन्तु अब नेटाल के विशेष सुरक्षित बनों में ही पाया जाता है। दक्षिणी-पश्चिमी सूडान तथा उत्तरी-पूर्वी कांगों तथा नील नदी के पश्चिम में यथेष्ट संख्या में पाया जाता है। कृष्ण द्विशृंगीय गेंडा भयावह होता है, केनिया तथा टागानियका में अब भी पाया जाता है, परन्तु संरक्षित स्थलों के अतिरिक्त इसके जीवित रहने की आशा नहीं। इसका नोकीला थूथन तथा ग्राही ऊपरी ओष्ठ इसकी घास चबाने की वृत्ति प्रकट करत हैं।

एशिया के सभी गेंडों में ऊपरी ओठ नोकीला तथा लिपट सकने की शक्ति युक्त होता है तथा ऊपरी रदनक दाँत कटारनुमा होता है। अफ्रीका के गेंडे में प्रायः सपाट त्वचा होती है। केवल पसलियों के ऊपर कुछ सिकुड़न सी होती है। ऊपरी ओंठ चौकोर होता है तथा दो सींग पास-पास होती हैं। एशियाई जातियों की अपेक्षा वे अधिक खुले स्थानों में रहते हैं। कृष्ण गंडक उत्तमाशा अंतरीप से लेकर सोमालीलैंड तथा सूडान तक पाया जाता है। यह पत्तियाँ तथा टहनियाँ ही खाता है।

श्वेत गंडक प्रायः विलुप्त है। यह केवल मध्य भूमध्यीय अफ्रीका में लाडो नामक स्थान में ही पाया जाता है। यह गेंडों में सब से बड़े आकार का होता है। इसके शरीर का रंग धूमिल स्लेटी होता है। यह साइबेरिया के पूर्वकालीन रोमीय गंडक का बन्धु ही है। सींगें आगे की ओर ढालू रूप में होती हैं जिससे वे धनुष की भाँति ज्ञात होती हैं। उनकी लम्बाई एक गज होती है। इनकी सींगें भारतीय गेंडे की सींगों से तिगुनी लंबी होती हैं। यह केवल घास खाता है तथा शान्तिपूर्वक स्थिरशृंगी हिरणों के झुण्ड में हिल-मिल कर रहता है, किन्तु आक्रमण करने पर भीषण रूप धारण

कर लेता है। क्रुद्ध होने पर यह आँखें मूँद कर सामने की किसी भी वस्तु पर आक्रमण कर देता है। वह वस्तु मनुष्य या कोई जन्तु हो या भारी मोटर या कोई निर्जीव वस्तु हो। यथार्थ में किसी भी गेंडे का कोई प्रतिद्वन्दी नहीं होता। केवल उसके शिशु पर सिंह या व्याघ्र कभी-कभी आक्रमण कर सकते हैं। मनुष्य की तो बात ही दूसरी है।

मोटी खाल होने पर भी अधिकांश शाकाहारी जन्तुओं की भाँति गेंडे पर भी किलनी पाई जाती है। अतएव जब कीटभक्षक सारिक पक्षी उसके शरीर पर बैठ कर इन किलनियों को भक्षण करते हैं तो कुछ सुख का सा अनुभव करने के कारण गेंडा इन पक्षियों को शरीर पर बैठने में कोई बाधा नहीं डालता। गेंडे की पीठ पर किलनी चुगती हुई सारिका का प्रस्तर-खचित चित्र लगभग ५०००० सहस्त्र वर्ष पुराना बना हुआ गुफाओं में प्राप्त होता है।



समांगुलीय (समशफी)

(ढोर, भेड़, बकरी, सूअर, मृग, हरिण, ऊँट, जिराफ आदि)

वृषभ, जिराफ, मृग, मेष (भेड़), उष्ट्र, शूकर तथा जलअश्व आदि विभिन्न प्रकार के जंतु समशफीय या समांगुलीय कहलाते हैं। बाह्य रूप में दृष्टि डालने पर इनके आकार-प्रकार में बड़ा विभेद दिखाई पड़ता है। इनके स्वभाव भी विभिन्न होते हैं परन्तु इन सब विभिन्न रूप के जंतुओं में एक बात सब में अवश्य देखी जाती है कि इनकी पादांगुलियाँ दो या चार की संख्या में जोड़ रूप में ही होती हैं। कुछ में तो चारों पादांगुलियाँ भूमि स्पर्श करती हैं, किन्तु कुछ में दो ही भूमि स्पर्श करती हैं। उनकी प्रत्येक बाह्य स्थित पादांगुलि भूमि से ऊपर ही उठी रहती है। अतएव वह अब केवल देखने की ही वस्तु रह गई है। उसका कोई व्यावहारिक उपयोग नहीं होता। किन्तु उनकी सम्यक व्यवस्था अब भी बनी है। विकास के प्रारंभ कालों से लेकर कालान्तर तक सृजित समशफी जंतुओं के विविध रूप तो आज विद्यमान नहीं हैं, परन्तु अब भी संसार भर में अनेक प्रकारों की बहुलता है जो ध्रुवों से लेकर भूमध्य रेखा तक के क्षेत्रों में प्रसारित पाई जाती हैं।

वृषभ वंश की अनेक प्रजातियाँ हैं जिनकी जातियाँ भी बहुत हैं। वृषभ या बैल का उत्पत्ति का स्थल तो आज अज्ञात वस्तु ही है। आज की विद्यमान नस्लों के अनेक स्रोत अनुमानित किए

जाते हैं। उनका रूप शृंगहीन या मुंडे से लेकर दीर्घ शृङ्गी, सूडानी तथा हंगेरी नस्लें भी हैं जिनमें सींगों का फैलाव दो गज से भी अधिक पाया जा सकता है। इन सब विविध जाति के बैलों में मिश्रण या वर्णसंकर रूप भी प्रचुर पाया जाता है। प्राचीन काल



विलुप्त महावृषभ (औरोक)

में स्कंध प्रदेश के निकट छः फुट ऊँचे दीर्घरोमीय वृषभ पार्वत्य भागों पर आरूढ़ होने की क्षमता रखते थे। परन्तु आज के वृषभों की ऊँचाई कम ही पाई जाती है। औरोक नाम के कृष्ण वर्ण के दीर्घकाय वृषभ अब विलुप्त हो गए हैं। कदाचित उनको वृषभ के पूर्वजो में अग्रणी स्थान दिया जा सके।

वृषभ या गोवंश का दन्तकथाओं, जनश्रुतियाँ एवं धार्मिक अस्थाओं में विशेष स्थान पाया जाता है। इस प्रसंग पर विशेष लिखने की कोई आवश्यकता नहीं। हमारे तीर्थ-स्थानों में वृषभों

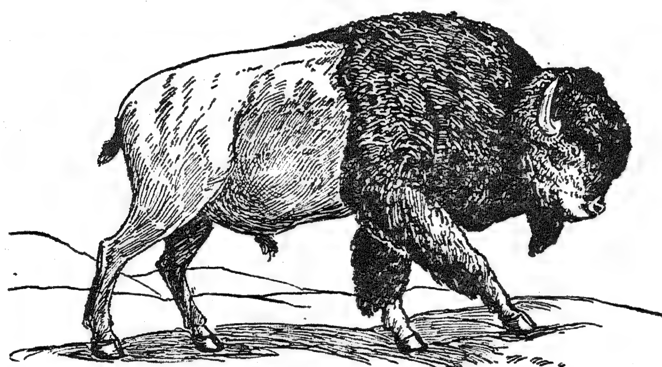
को दाग कर सड़कों पर खुले रूप में छोड़ देना तो एक बड़े ही पुण्य का कार्य समझा जाता है। इसीलिए प्रसिद्ध भी है कि :—

"राँड़, साँढ़, सीढ़ी, संन्यासी, इनसे बचे तो सेवे काशी।" अर्थात् बनारस में विधवाओं, छुट्टे वृषभों, सीढ़ियों तथा संन्यासियों की इतनी अधिकता है कि पग-पग पर वे सामने आते हैं।

गौर और गयाल भारत के वन्य वृषभ हैं जो प्रचुर बल तथा साहस के लिए प्रसिद्ध हैं। अतएव ये भीषण जंतु बने होते हैं। आसाम में गयाल को अधिकतया पालतू बना लिया गया है। जावा का वामन वृषभ "बैंटेंग" नाम से पुकारा जाता है। इसकी सींगें ठिगनी सी होती हैं। यह वन्य जंतु है, परन्तु पालतू भी बना है। चमरपुच्छी या चमरी वृषभ तिब्बत का पशु है। यह शताब्दियों से पालतू बना पाया जाता है। इसमें शीत के सहन करने की अद्भुत क्षमता होती है। टेढ़े-मेढ़े दुर्गम पहाड़ी मार्गों में भी इसके पैर धोखा नहीं देते। मोटे से मोटा चारा खाकर ही जीवित रहने की शक्ति इसमें है जिससे यह मनुष्य के लिए तिब्बत या निकटवर्ती भूभागों में बड़ा ही उपयोगी जंतु सिद्ध होता है। इसके बिना तो उन भूभागों में मनुष्य का जीवन भी दूभर हो जाता। भूस्पर्शी लंबे रोम आच्छादन बनाने में उपयुक्त होते हैं। यह भारवाही भी है। अस्थि, शृङ्ग तथा खुर के भी उपयोग हैं। मांस भी खाद्य है। मादा द्वारा दूध भी प्राप्त होता है।

बीसन वृषभ का पूर्व काल में विस्तृत भूभागों में प्रसार था, किन्तु अब उत्तरी योरप तथा उत्तरी अमेरिका में ही पाया जाता है। योरोपीय बीसन को तो रूस में जारों द्वारा संरक्षित करने की नीति लुप्त होने से बचाए रही। परन्तु प्रथम महायुद्ध काल में इसका लोप सा ही हो चला किन्तु युद्धोपरान्त सब देशों के सहयोग से इसकी जाति संरक्षित हो सकी। योरोपीय बीसन की स्पष्ट

पहचान यह है कि इसका मस्तक भारी होता है। अगले पैरों पर झबराले बाल उगे होते हैं तथा दुम छोटी होती है। यह जंगलों में रहने वाला पशु है। अमेरिकीय बीसन की पहचान उसकी अपेक्षाकृत लंबी सींगें हैं। पहले इसका प्रसार अमेरिका में पेनसिलवानिया प्रदेश से लेकर राकी पर्वत माला के आर-पार तथा मेक्सिको से कनाडा तक था। केवल पचास वर्षों पूर्व तक इसकी कथा बड़ी लोमहर्षक रही है। इसका अँधाधुँध तथा अनावश्यक बध निरंतर होता रहता था। गोरे आगन्तुकों द्वारा मांस के लोभ में इसके बध से मूलवासियों को मर्मान्तक क्लेश होता था। मूलवासी



बीसन

अपने इतने उपयोगी पशु का गोरों के हाथ संहार देख-देख कर स्तब्ध से रह जाया करते। यह कार्यकलाप गोरों तथा मूलवासियों के मध्य घोर द्वेष भावना उत्पन्न करने का आधार बना रहा। अमेरिका के शीत प्रदेशीय मांसभक्षियों तथा नवागंतुक गोरों द्वारा बध कार्य से इसकी संख्या लाखों-करोड़ों के स्थान पर कुछ सौ ही रह गई। ये लोग पथरीले या लकड़ी के बनाए मेड़ों या रुकावटों

के मध्य असीम बीसनों को हाँक ले जाकर किसी खड्ड के पतले मार्ग तक पहुँचाते और इनको असीम संख्या में गिरकर मृत होने का अवसर देते।

अमेरिकीय बीसनों की रही-सही संख्या के बचा लेने के लिए कालान्तर में संरक्षक परिषद तथा उसकी बहुसंख्यक शाखाएँ स्थापित हुईं। परिणामतः आज बीसनों की यथेष्ट संख्या अमेरिका में पाई जाती है। अर्द्ध पालतू बीसनों द्वारा मनुष्य के बीसियों काम निकलते हैं। यह पशु मैदानों का निवासी है और केवल घास खाकर रहता है। इन पाश्चात्य वन्य पशुओं के संहार तथा पुनः रक्षा की कथा पशु-जगत की महत्ता प्रकट करने के लिए स्मरणीय है।

वृषभों की बात छोड़कर जब हम भारतीय महिषों (भैंस तथा भैसों) की बात लेते हैं तो उनको भी पशु-जगत के मानवोपयोगी पक्ष में विशेष स्थान प्रकट होता है। भारत तथा पूर्व के देशों में ये पाए जाते हैं तथा मुख्यतया पालतू बना लिए गए हैं। ये हंगेरी, आस्ट्रेलिया आदि दूर-दूर तक के देशों में ले जाकर प्रसारित भी किए जा सके हैं। इस पशु का रंग स्लेटी होता है। छोटी सींगों युक्त वृषभ के बराबर इसका डीलडौल होता है। इसकी सींगों में विभिन्न नस्लों में विभिन्न रूप पाया जा सकता है। ये सींगें गाय, बैलों (वृषभों) की ही भाँति शृङ्गीय पदार्थ निर्मित खोखली होती हैं जो मस्तक से निकले हड्डी के शंकुवत उभाड़ के ऊपर मढ़ी होती हैं। अंतःस्थित अस्थि-अर्बुद में रक्त-शिराएँ प्रचुर होती हैं। ये सींगें आजीवन रहती हैं।

महिष अमूल्य भारवाही पशु हैं। आर्द्र स्थलों में सर्वोत्तम रूप से रह सकते हैं। वृहद आकार होने पर भी ये सहज ही वश कर लिए जाते हैं। इनके झुन्ड को बालक चरवाहे भी सँभाल

सकते हैं। जावा में भूमि पर उगे कुछ काँटों को मर्दित करने में इसका उपयोग किया जाता है। खेतों में सीधे-सीधे चला-फिरा कर जोतने समान काम भी निकाल लिया जाता है।

सिलेबीज द्वीप में वामन महिष होता है जिसका नाम "अनोआ" रक्खा गया है। यह वृषभ के आधे आकार का ही होता है। यह चपल तथा क्रियाशील पशु है। इसके बाल छोटे तथा घने होते हैं। सींग छोटी और पीछे घूमी होती है। पीछे घूमी हुई छोटी सींग के कारण यह पशु सरपत के सघन बनों, में भी सिर के धक्के से मार्ग बनाता निकल सकता है। सींगों के कहीं घास पात या डालों में फँस जाने का भय नहीं होता। वृषभ वंश के अन्य जंतुओं की भाँति इसके भी एक बार में एक ही संतान प्रायः उत्पन्न होती है। इसकी औसत आयु बीस वर्ष होती है।

भाव प्रकाश में भैंस, भैंसे या महिष को लुलाय नाम से संबोधित पाया जाता है। इसे कूलेचर पशु कहा गया है—

"लुलाय गंड वाराह चमरी वारणादयः। एते कूलेचराः प्रोक्ता।" अर्थात् भैंसा (लुलाय), गैंडा (गंड), सूअर (वाराह), याक (चमरी) तथा हाथी (वारण) को कूलेचर पशु कहते हैं।

इन जंतुओं में रहन-सहन की थोड़ी सी समानता से ही इनको एक विभाग में माना गया है, परन्तु वैज्ञानिकों ने शारीरिक रचना का सूक्ष्म अध्ययन कर इन में विभिन्नता देखकर केवल भैंसे, सूअर तथा याक को समशफी या समांगुलीय गण में रक्खा है। गैंडा विषमशफी या विषमांगुलीय गण में गिना जाता है। हाथी को तो एक पृथक गण ही कहते हैं।

अन्य नामों में निम्न नाम भी भैंसे के ज्ञात हैं:—

महिषो घोटकारिः स्यात्कासरश्च रजस्वलः
पीनस्कंधः कृष्णकायो लुलायो यमवाहनः ।।

अर्थात् महिष, घोटकारि, कासर, रजस्वल, पीनस्कंध, कृष्णकोय, लुलाय और यमवाहन भैंसे के नाम हैं।

भेड़-बकरी का भी पशु जगत में उचित स्थान है। इनको एक दूसरे से मिलता-जुलता या कुछ सम्बन्धित सा पशु कह सकते हैं। यदि सच पूछा जाय तो कुछ बाह्य विभिन्नता रखने पर भी छाग (बकरी-बकरे), मेष (भेड़-भेड़े), काश्मीर छाग (आइबेक्स), मृग और वृषभ आदि एक शृङ्खला रूप के पशु हैं। इन सब में पैरों में एक जोड़ी पादांगुलियाँ व्यावहारिक तथा भूस्पर्शी होती हैं तथा अन्य एक जोड़ी पादांगुलियाँ ऊपर उठी तथा दिखावटी ही होती हैं। प्रायः सींग भी होती है और आँख में आड़ी पुतली होती है। उदर विषम रूपी होते हैं। इनको जुगाली करने वाले जंतु भी कहा जाता है। आमाशय में कई प्रकोष्ठ होते हैं।

छाग (बकरे-बकरी) को भी केवल रहन-सहन के कारण प्राचीन रूप के विभागों में स्थान देने का प्रयत्न किया गया है। भाव-प्रकाश में उल्लिखित है:—

छागमेष वृषाश्चाश्वा ग्राम्याः प्रोक्ता महर्षिभिः।

अर्थात् बकरी (छाग), भेड़ा या मेढ़ा (मेष), बैल या साँड़ (वृष) तथा घोड़े (अश्व) को ग्राम्य पशु कहा जाता है।

इस तरह के विभाग में अश्व को स्थान मिला है। उसे आज के वैज्ञानिक विषमांगुलीय या विषमशफीय गण में ही गिनते हैं। शेष पशु समशफीय या समांगुलीय ही हैं। इन में मेष के विभिन्न नाम इस प्रकार बताए गए हैं:—

मेढ्रो मेढो हुडो मेष उरणो ऽ प्येडकोऽपि च।
अविर्वृष्णिस्तथोर्णायुः।

अर्थात् मेढ्र, मेढ, हुड, मेष, उरण, एडक, अवि, वृष्णि और ऊर्णायु नाम भेड़े के हैं।

मेष का उद्‌भव किस समय हुआ, यह कहना कठिन है परन्तु मनुष्य के उदय काल से वह उसका सहयोगी तथा पालतू पशु रहता आया है। आज तो प्रायः सारे संसार के उन सब भागों में इसका प्रसार है जहाँ इसका रहना संभव हो सकता है। छाग मुख्यतः शीतोष्ण कटिबंध का पशु है किन्तु यह भीषण शीत को भी सहन कर सकता है। इसके लिए इसके घने लंबे रोम रक्षा के साधन बनते हैं। मनुष्य उसके रोम (ऊन) का उपयोग अपने शीतकालीन आच्छादन के लिए करता है।

मेष से दूध और मांस दोनों ही प्राप्त होते हैं। कुछ देशों में तो ये भारवाहक का काम आज भी करते पाए जाते हैं। पृथक-पृथक भूभागों में स्थानीय आवश्यकतानुसार विभिन्न नस्लें उत्पन्न की गई हैं। इसकी नस्लें सुधारने वालों ने आवश्यकताओं के अनुसार इतने अधिक परिवर्तन कर लिए हैं कि उसे देख आश्चर्य होता है। वसा (चरबी) युक्त खाद्य पदार्थों की इच्छा से वसापूर्ण कटि प्रदेश तथा वसापूर्ण पुच्छयुक्त मेष उत्पन्न हो सके हैं। दुम का चरबी युक्त होने से, कभी-कभी इतना भारी रूप पाया जाता है कि उसे वहन करने के लिए भेड़ द्वारा खींची जाने वाली एक छोटी गाड़ी सी बना ली जाती है। चरबी युक्त भारी दुम के भेड़ों को दुम्बा नाम दिया जाता है। इसके नाम विभिन्न हैं। भाव प्रकाश में उल्लिखित है:—

"एडकः पृथुश्रृङ्गः स्यान्मेदःपुच्छस्तु दुम्बकः।"

अर्थात् एडक, पृथुश्रृङ्ग, मेदःपुच्छ और दुम्बक दुम्बा के पर्याय नाम हैं।

भेढ़े या मेष में श्रृङ्ग बहुत स्थूल हो सकते हैं और कोई जाति

शृङ्गहीन भी हो सकती है। दक्षिण अफ्रीका तथा अन्य अनेक भूभागों में चतु:शृङ्गी मेढ़े भी पाए जाते हैं। भारत में दोनों शृंगों के जुटने से एकशृङ्गी सा रूप धारण करने वाला मेढ़ा भी होता है। स्पेन में मेरिनो नामक मेढ़ा इतने बड़े बालों को उत्पन्न करता है कि उसको हस्तीमेष कहते हैं। इसके विपक्ष सूडान, न्यूगिनी तथा अन्य उष्ण भूभागों में तो मेढ़ों या भेड़ों के शरीर पर लंबे बाल उगते ही नहीं। बकरी की तरह छोटे बाल ही होते हैं।

वन्य मेष दीर्घकाय सर्पिलाकृत शृङ्गों युक्त होते हैं जो प्राय: सभी पार्वत्य भागों में पाए जाते हैं। इनमें सूक्ष्म नोकीले खुर होते हैं तथा उनकी जगह बाल ही शरीर पर उगे होते हैं। सार्डीनिया और कार्सिका की मौफलोन, कनाडा की वे दीर्घशृङ्गी, तथा मध्य एशिया पामीर की मार्कोपोलो नामक जातियाँ प्रसिद्ध हैं। इन सब पार्वत्य जातियों में मार्कोपोलो नाम से प्रसिद्ध जाति सबसे सुन्दर होती है। उसकी सींग टेढ़ेपन का फैलाव दृष्टि में रख ६ फुट लंबी होती है।

सभी पार्वत्य मेढ़े मनुष्य से दूर भागने वाले पशु हैं। ये ऐसे दुर्गम पर्वतों में रहते हैं कि उन तक आदमी की पहुँच ही नहीं हो सकती। तिब्बत का अरगोली मेढ़ा तो समुद्र-तल से १३००० फुट से भी अधिक ऊँचाई पर चढ़ जाता है।

पहाड़ी मेढ़े प्राय: छोटे झुन्डों में चलते हैं। पालतू भेड़ों की तरह बहुत भारी झुण्ड नहीं बनाते। पालतू भेड़ों की बहुत कुछ बुद्धि तथा स्वतंत्रता आज नष्ट हो चुकी है, किन्तु अब भी उनकी प्रारंभिक स्वाभाविक वृत्तियाँ पूर्णत: नहीं मिटी हैं। स्काटलैंड के पठार की कुछ स्वतंत्र सी नस्लों को युद्धोपयोगी व्यूह-रचना करते पाया जाता है। जब किसी अजनबी कुत्ते या किसी शत्रु का सामना होता है तो उनमें अपेक्षाकृत वृद्ध मेढ़े आगे की

ओर हो जाते हैं। युवा मेढ़े उनके पीछे हो जाते हैं। इन सब के पीछे मेमने तथा भेड़ें हो जाती हैं। ऐसे रूप में व्यवस्थित हो कर वे ऐसा व्यूह बना लेते हैं जिस में सारा दल वृद्धों द्वारा नियंत्रण प्राप्त करता है। इस प्रकार के आयोजन का शत्रु पर भयप्रद प्रभाव पड़ता है।

उत्तरी अफ्रीका का बर्बरी वन्य मेढ़ा जंगली मेढ़ों में बहुत प्रसिद्ध है।

मेढ़ों या भेड़ों के निकटवर्ती पशु छाग हैं। इन दोनों में इतना न्यून भेद होता है कि कभी-कभी उनमें अंतर समझ सकना कठिन हो सकता है। विशेषकर वन्य जातियों में इनका भेद ज्ञात करना कठिन हो सकता है। छाग के विशेष लक्षणों में साधारण रूप की वक्रित या खड़े रूप में ऐंठन युक्त सींगें, बालदार थूथन तथा शरीर का आच्छादन होता है। नेत्र के नीचे न्यूनाकृत या लुप्त मुखीय ग्रंथि होती है तथा अगले पैर के खुरों के मध्य गंध-ग्रंथि होती है। इन पादवर्ती (शफवर्ती) गंध-ग्रंथियों से ऐसी स्पष्ट गंध परिस्फुटित होती है कि निर्जन मैदानों में उनके द्वारा स्पष्ट मार्ग-निदर्शन हो जाता है। विभिन्न जाति के छागों में इन पादवर्ती गंध-ग्रंथियों से विभिन्न प्रकार की बास उत्पन्न होती है। इन गंधों से नरमादा के एकत्र होने या किसी दल के सभी सदस्यों का एक दूसरे से सम्पर्क बनाए रखने का उत्तम साधन प्राप्त होता है।

पालतू छागों में अधिकांश को भूमध्य सागर तटवर्ती वन्य छागों की संतान कहा जा सकता है। आदमी ने उसकी कितनी ही नस्लें मिश्रण (वर्णसंकर उत्पादन) द्वारा उत्पन्न की हैं। कुछ छागों (बकरियों) की प्रसिद्ध नस्ल से तो साधारण गाय से भी अधिक दूध प्राप्त हो सकता है। न्यूबियन नस्ल के छाग में गलस्तन दीर्घकाय बने होते हैं। कर्मिल पर्वत के छागों के कान तो इतने लंबे

होते हैं कि प्राय: घुटने स्पर्श करते हैं। ईरान और तुर्किस्तान में शाल नस्ल नाम के छागों के लंबे रेशम समान बाल होते हैं जो भूमि स्पर्श सा कर झूलते से ज्ञान पड़ते हैं।

छाग मनुष्य के हाथों इतने विविध रूपों की नस्ल उत्पन्न करने में समर्थ होने पर भी यदि छुट्टे छोड़ दिये जायँ तो पुनः जङ्गली बन सकते हैं। ऐसे पुनः जङ्गली बने छाग अनेक दूरस्थ भूभागों में पाए जा सकते हैं। स्काटलैंड, स्काई द्वीप, सेंट हेलेना, ज्वान फर्नेंडीज तथा एजोर द्वीपों में ऐसे वन्य छाग मिलते हैं। चीन में एक सर्वथा शृंगहीन छाग पाया जाता है।

भेड़ की जातियाँ बुद्धि में अधिक तीव्र नहीं होतीं, इसी कारण अंध अनुकरण को भेड़ियाधसान के नाम से प्रसिद्ध किया जाता है। परन्तु छाग अपेक्षाकृत अधिक बुद्धिशाली होते हैं। सरकसों में भेड़ों द्वारा कोई कौतुकमय खेल दिखाने का अवसर कदाचित ही कभी मिला हो किन्तु छाग तो कितने ही करामाती खेल दिखाते हैं।

पालतू छागों की अपेक्षा वन्य छाग अधिक उद्यमी तथा परिस्थितियों के अनुकूल जीवन-क्रम परिवर्तित कर सकने में समर्थ होते हैं। कोई भी पर्वतमाला उनके लिए दुर्गम नहीं ज्ञात होती, कितनी भी दुर्लभ हरियाली उनकी उदरपूर्ति के लिए यथेष्ट हो सकती है। ये खुले रूप में गृहविहीन ही जीवनयापन करते हैं अतएव इनके शिशु असहाय रूप के नहीं होते। शिशु प्रायः एकबार एक ही उत्पन्न होता है। जुड़वें शिशु कभी-कभी ही उत्पन्न होते हैं। किन्तु पालतू बकरियों के बच्चे प्रायः दो या अधिक पैदा होते हैं। छागों का बच्चा एक दिन की आयु का होने पर ही चल सकता है। प्रारंभिक थोड़े दिनों तक कुछ लड़खड़ाता सा ही है किन्तु कुछ समय में ही स्वावलंबी तथा अनुभवी हो जाता है।

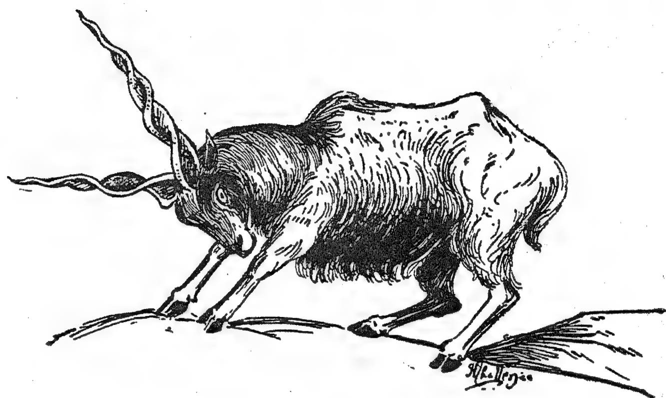
पर्वतों के ऊँचे नीचे तल पर चढ़ने के लिए समर्थ होने के लिए पहले वह अपने माता पिता के अंगों पर कूदता फाँदता है। मेहराबदार सींग की नोक पर भी संतुलित होकर खड़े होने का प्रयत्न करता है।

अर्द्ध या पूर्ण पालतू छागों से पृथक रूप में पूर्ण वन्य छाग को चाप-शृंगी छाग (आइबेक्स) कहते हैं। इनकी सींग दीर्घकाय, चौड़ाई की दिशा में समानान्तर दरारों युक्त तथा पीछे की ओर आड़ी हँसिया-सी मुड़ी होती है। इसी कारण इसे चापशृंगी कहते हैं। सींग की लंबाई पूरा एक गज हो सकती है। दाढ़ी (कूर्च) प्रचुर होती है। वह कुछ नरों में तो घुटनों तक लटकी होती है। उसे दोहरा घाँघरा सा रूप धारण किए पाया जाता है। शरीर पर बालों का आच्छादन ऋतु के अनुकूल न्यूनाधिक होता है। कुछ जातियों में दाढ़ी न्यूनतम होती है, परन्तु सन्तानोत्पादन ऋतु में बढ़ जाती है। इस ऋतु में नरों में द्वन्द्व युद्ध होता है। वे पिछले पैरों पर खड़े होकर अपनी सींगों से टक्कर लेते हैं। किन्तु भेड़ा जब कभी भी दूसरे भेड़े से लड़ता है, चारों पैर भूमि पर रखकर ही सींगों से टक्कर लेता है।

चापशृंगी छाग की कई जातियाँ पाई जाती हैं। आल्प पर्वतीय, एशियाई, न्यूबियन तथा अबीसीनियन जातियाँ प्रख्यात हैं। माँस तथा खाल के लिए इनकी माँग अधिक रहती है। यही नहीं, सींग भी तुरही (शृंगी वाद्य-यंत्र) बनाने, जलपात्र समान प्रयुक्त होने तथा चूर्ण रखने की डब्बी समान प्रयुक्त होने के लिए प्राप्त की जाती है। इस कारण इनकी संख्या निरंतर क्षीण होती ही जा रही है।

मारखोर जाति का छाग काश्मीर के उत्तर तथा दक्षिण के

पर्वतों में पाया जाता है। इसके अनेक स्थानीय भेद पाए जाते हैं। इसकी सींग कार्क खोलने के स्क्रू की भाँति खुले सर्पिलों वाली होती है किन्तु सीधी सींग होने के भी उदाहरण हैं। ग्रीष्म में तो ठिगने भूरे रंग के बाल ही होते हैं, परन्तु शीत काल में वे धूसर



मारखोर

रंग के तथा झबराले बन जाते हैं। पर्वतारोहण में यह सभी छागों से बाजी मार ले जाता है। यह आड़ी डालों को पैर रखने का सहारा बनाकर वृक्षों तक पर चढ़ जाता है। इस रूप में यह यथेष्ट ऊँचाई तक चढ़ जाता है।

नाहर छाग हिमालय का छाग है। इसकी सींग छोटी चिकनी तथा केवल मुड़ी होती है और पीछे की ओर झुकी होती है। नर मादा दोनों में ही एक आकार की सींग होती है। कूर्च (दाढ़ी) की जगह पर गर्दन तथा स्कंध प्रदेश के चारों ओर एक घना अयाल (केश या बालों का गुच्छा) होता है। स्कंध के निकट

एक गज ऊँचाई वाले जंतु के लिए यह केशर बहुत अधिक कही जा सकती है किन्तु अधिक से अधिक भारी भरकम नर भी विचित्र स्फूर्ति दिखाते हैं। सभी आक्रामकों की अपेक्षा द्रुत गति से पहाड़ी दर्रों तथा खड्डों को पार कर लेते हैं।

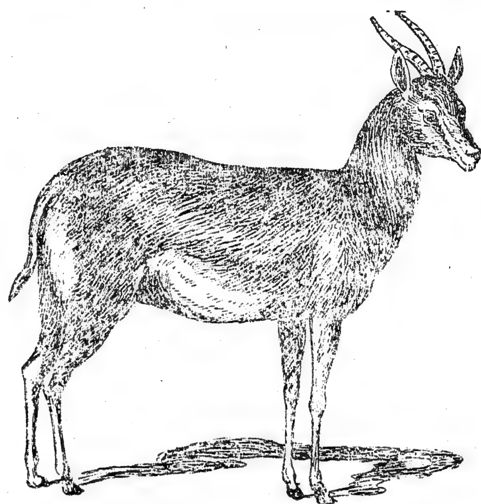
चेमाय नामक छाग प्रसिद्ध पहाड़ी बकरा है। यह बड़ा ही अभीष्ट आखेट बनता है। आल्प, पिरेनीज, कारपेथियन तथा काकेशस पर्वतों में पाया जाता है।

इसकी सींग छोटे अंकुश समान पीछे की ओर मुड़ी होती है। मुख पर काला धब्बा होता है ग्रीष्म में मटमैले लाल भूरे रंग के बाल होते हैं। पीठ पर काले रंग की पट्टिया होती हैं। निम्नतल लाल पीला मिश्रित होता है। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् स्विटजरलैंड की नस्ल नष्टप्राय हो रही थी। उस पर एक संक्रामक रोग का आक्रमण हो गया था, परन्तु निरोग पशुओं को पृथक कर लेने से इसका भय जाता रहा।

राकी पर्वतीय छाग अपने भव्य डील-डौल, चमकीले शुद्ध श्वेत झबराले बालों तथा पूर्णतः काली छोटी सींगों के कारण उल्लेखनीय हैं। प्रत्येक सींग के पीछे एक बड़ी गोल ग्रन्थि होती है। भारी भरकम शरीर दिखाई पड़ने पर भी यह अधिक से अधिक ऊँचा तथा दुर्गम चोटी पर चढ़ सकता है। वहाँ केवल काई तथ। लिचेन वनस्पति खाकर ही जी सकता है। ये वनस्पति पथरीले दरारों या बर्फ के नीचे पाए जाते हैं। इसे छाग तथा स्थिर-शृङ्गी हरिण के मध्य का पशु कहा जा सकता है। जंतुशाला में रखने पर यह अपने कक्ष की छत पर जाकर शीत की अवहेलना करता रहता देखा जा सका है।

सेरा या छाग-हरिण भी छागों और स्थिरशृंगी हरिणों के

मध्य की जीवित शृंखला कहा जा सकता है। यह छाग समान रूप रखने वाला पशु है। इसकी सींग तिकोनी तथा कुछ मुड़ी



छाग हरिण

होती है। सुमात्रा में पर्वतों में रहता है। इससे मिलती-जुलती जातियाँ कोचीन चीन, तिब्बत तथा मलाया में होती हैं।

टाकिन सेरो से भी कम प्राप्त होने वाला पशु है। यह भारी भरकम तथा वृषभ समान शरीर का जंतु है। इसका रंग फीका भूरा होता है। चौड़ी चपटी नाक तथा बड़ी सींगें होती हैं। सींगें पहले वाहर की ओर फैल कर फिर नीचे झुकी होती हैं। उनकी नोक दुम की ओर निर्देशित होती है। यह तिब्बत में पाया जाता है। इसकी गंध कटु होती है।

कस्तूरी-वृषभ भी छाग और हरिण का मध्यवर्ती जंतु है। इसकी सींग टाकिन समान होती है किन्तु जड़ में रोम होते हैं तथा मस्तक पर एक भारी गूमड़ (मांसल अर्बुद) होता है। यह ध्रुवीय अमेरिका तथा ग्रीनलैंड में मिलता है। घने बाल शीत से रक्षा करते हैं। यह भयानक पशु है। शत्रु का डट कर सामना करता है। इसके झुण्ड अधिकांशतः भेड़िया तथा ध्रुवीय भालुओं के आक्रमण को निरर्थक सिद्ध कर उन्हें भगा देते हैं।



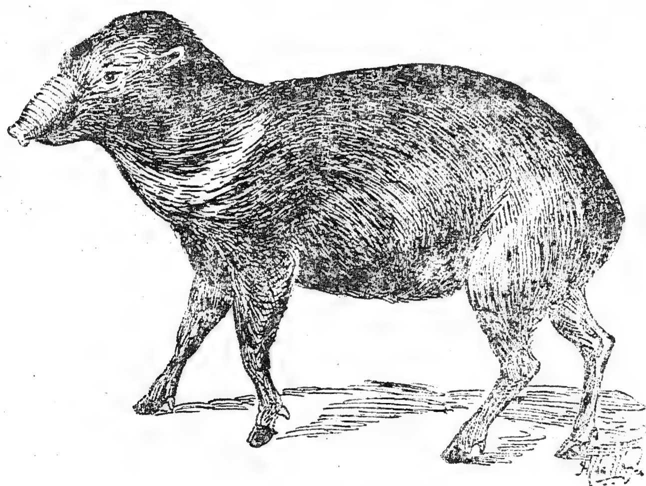
समांगुलीय (समशफी) (२)

समांगुलीय या समशफी जंतुगण उन स्तनपोषी जन्तुओं को कहते हैं जिनके पैरों में दो या चार अँगुलियाँ सम संख्या की होती हैं। वे प्राय: टाप या शफ के एक या दो जोड़े रूप में होती हैं। इनमें कुछ जंतु जुगाली करने की वृत्ति नहीं रखते जैसे शूकर तथा जल-अश्व (दरयाई घोड़ा) जिनमें चार अँगुलियाँ प्रत्येक पैर में होती हैं तथा उष्ट्र और लामा जिनके पैर में दो अँगुलियाँ होती है और उनमें टाप या खुर की जगह नख होते हैं। दो या चार शफ (खुर या टाप) वाले जो जंतु जुगाली करने वाले होते हैं, उनका आमाशय जटिल होता है। उनके नर या मादा में से प्राय: एक या दोनों में सींग होतो हैं। शूकर छोटे पैरों के मझोले आकार के जंतु हैं। उनके पैर की बाह्य अँगुलियों के जोड़े व्यवहृत होने योग्य नहीं होते। उनके लंबे मुख का अंतिम भाग गतिशील थूथन रूप में होता है। बाल मोटे तथा विरल होते हैं। दन्तावली पूर्ण होती है। रदनक (कुकुरदन्ता) बाहर की ओर निकले तथा अत्यधिक वक्रित होते हैं। वे हाथी दांत की भाँति रक्षा तथा प्रहार के लिए अस्त्र का काम देते हैं। चबाने के दाँतों (चर्वणक) में बहुसंख्यक दानेदार उभाड़ होते हैं। सूअर बड़ा कष्टसहिष्णु जंतु है। कुछ भी खाकर जीवित रह सकता है। यह संसार भर में पाया जाता है। केवल आस्ट्रेलिया में उसका अभाव है।

योरोपीय जङ्गलो सूअर योरप, उत्तरी एशिया तथा उत्तरी

अफ्रीका के जंगलों में पाया जाता है। इसके शिशु के शरीर पर पट्टियाँ होती हैं परन्तु वयस्क का रंग तो केवल धूसर मिश्रित भूरे रंग के मोटे, घने बालों से आच्छादित रहता है। वयोवृद्ध वन्य शूकर अपने रदनक दांतों (हाथी दांत समान बाहर निकले) से घातक प्रहार कर सकता है।

अनुमान होता है कि पालतू सूअर जंगली सूअर का ही वंशज है। दक्षिणी एशिया में इसकी कई जातियाँ मिलती हैं। उनमें सबसे छोटा आकार नेपाल के बौना शूकर का होता है। वह एक फुट ऊँचा भी नहीं होता। सिलेबीज द्वीपों में एक रोमहीन शूकर होता है। इसके पैर बड़े होते हैं। विचित्र बात यह होती है कि



पाताल शूकर (पेक्कारी)

इसके ऊपरी रदनक दांत पीछे की ओर वक्रित होकर मुख में प्रविष्ट नहीं करते, बल्कि अस्थि के मध्य से ऊपरी ओर बढ़कर नेत्रों

के सम्मुख एक मेहराब बना लेते हैं। नीचे के हनु के रदनक भी इसी अनुरूप होते हैं।

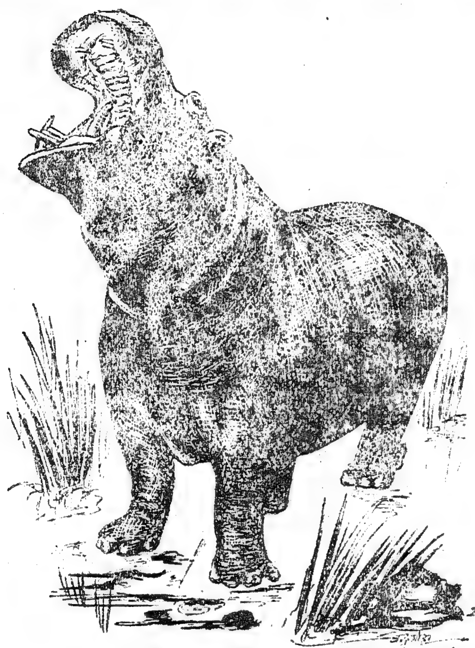
अफ्रीका में कई जातियों के शूकर होते हैं। बहुरंजित लुप शूकर या रक्त नदी शूकर तथा कृष्ण वन शूकर पश्चिमी अफ्रीका से केनिया तक के वन्य भागों में पाए जाते हैं।

दक्षिण तथा मध्य अमेरिका के शूकर को पेक्कारी नाम दिया गया है। इसका वंश अन्य शूकर वंशों से पृथक ही है। उनके पिछले पैरों में केवल तीन अँगुलियाँ ही होती हैं। दांतों की संख्या न्यून होती है। ऊपरी रदनक कभी भी मुख से बाहर या ऊपर की ओर नहीं निकला होता। उसकी पूँछ आदिम रूप की होती है तथा आमाशय जटिल रूप का होता है। कंठ-पट्टित पेक्कारी टेक्सा राज्य तक उत्तर में फैला मिलता है। ब्राजील का श्वेतओष्ठ पेक्कारी आक्रामक वृत्ति के लिए प्रसिद्ध है। यह झुन्ड रूप में रहता है।

जलअश्व या जलघोटक वंश में साधारण तथा वामन रूप की दो जातियाँ होतीं हैं। इस वंश के जंतुओं का पुष्ट शरीर, नग्न त्वचा, चौड़े थूथन, चौड़ा पैर तथा उसमें चार अँगुलियों में सभी भूमि स्पर्श करने वाली होती हैं। इसमें कर्तनक दाँतों का विशेष विकास तथा रदनक का हाथी दांत रूप में विकास विशेषता है।

साधारण दरयाई घोड़ा जलघोटक के मांस तथा वृद्धिप्राप्त सुन्दर दांतों पर मनुष्य की शनि दृष्टि पड़ने से इसका संसार से धीरे-धीरे लोप होता जा रहा है। यह उष्ण प्रदेश से अफ्रीका की नदियों तथा झीलों में पाया जाता है। यह घास तथा वनस्पतियों का आहार प्राप्त करने के लिए केवल रात को ही पानी से बाहर निकलता है। नासिका, नेत्र तथा कर्ण के स्थान ऊँचे होने से यह सुविधा पूर्वक पानी में ही डूबा रह कर श्वास लेता तथा

देखता सुनता रहता है। बृद्ध जलघोटक की लंबाई १४ फुट तथा

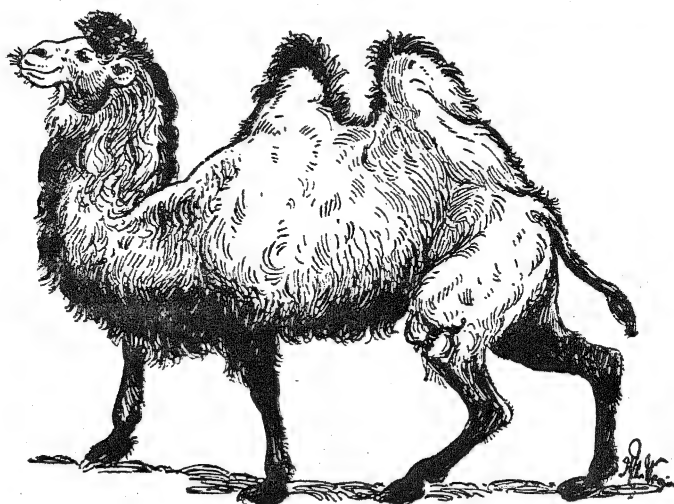


जलअश्व (दरियाई घोड़ा)

भार ११० मन होता है। वामन जलघोटक की लम्बाई ५ फुट से अधिक नहीं होती। यह केवल पश्चिमी अफ्रीका के सीमित क्षेत्र में पाया जाता है। यह उतना अधिक जलजीवी वृत्ति नहीं रखता तथा झुन्डप्रिय भी नहीं होता।

उष्ट्र वंश में ऊँट और लामा का ही नाम लिया जा सकता है। इनके पैरों में दृढ़ गद्दी होती है तथा प्रत्येक पैर में नखों युक्त दो अँगुलियाँ होती हैं। ग्रीवा लंबी होती है तथा आमाशय

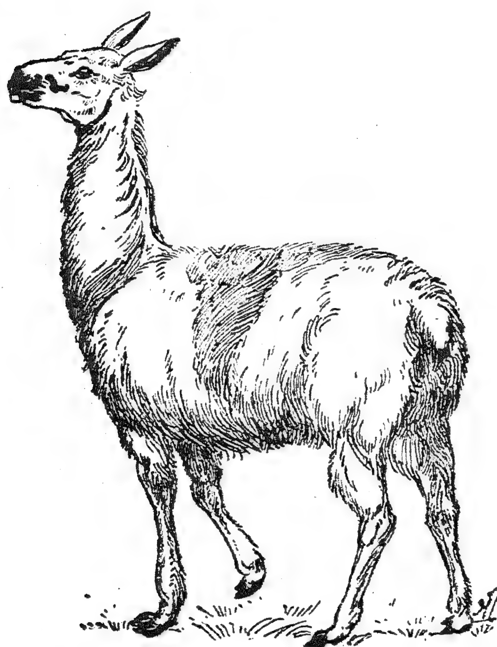
जटिल होता है। दन्तावली में ऊपरी तथा निचले हनु में कर्तनक, छोटे रदनक तथा चर्वणक होते हैं। ऊँट केवल पूर्वी गोलार्द्ध (पुरानी दुनियाँ) का जंतु है। उनमें कोहान, मोटे बाल तथा रोम-



दो कोहान का ऊँट

गुच्छीय पूँछ होती है। डील-डौल बड़ा होता है। एक कोहान का ऊँट अरबी ऊँट कहलाता है। वह केवल पालतू रूप में मिलता है, वन्य रूप में कहीं भी नहीं पाया जाता। उत्तरी अफ्रीका से लेकर भारत तक यह बड़ा ही उपयोगी जंतु है। दो कोहानों का ऊँट मध्य एशिया में पाया जाता है। वह बैक्ट्रिया का ऊँट कहा जाता है। गोबी की मरु भूमि में यह अल्प संख्या में अब भी वन्य रूप में पाया जाता है। दो कोहान का ऊँट अधिक बड़े डील-डौल का होता है। बाल भी अधिक होते हैं।

लामा ऊँट की तरह ही जंतु है जिसकी पीठ पर कोहान नहीं होता। इसका आकार अपेक्षाकृत छोटा, होता है, पूँछ छोटी होती है तथा शरीर पर रोम-बाहुल्य होता है किन्तु आमाशय की रचना में ऊँट की समानता रखता है। लामा विशेष रूप से उन



लामा

जंतुओं को कहते हैं जो पेरू में श्वेत या कृष्ण रंग के पाए जाते हैं और भार-बहन कार्य में प्रयुक्त होते हैं। एक दूसरी पालतू जाति अल्पाका कहलाती है जो केवल भव्य ऊन के लिए पाली जाती है।

वन्य जातियों के लामा में ग्वानाको दक्षिणी अमेरिका के दक्षिणी मैदानों में मिलता है तथा उससे छोटे आकार का विकुग्ना उत्तरी एंडी पर्वत में पाया जाता है। इन दोनों का रंग हल्का भूरा होता है। ये लज्जालु तथा तीव्रगामी जन्तु हैं और झुन्डों में रहते हैं।

जुगाली करने वाले जन्तुओं में आमाशय के प्रायः चार खंड होते हैं। हिरण-मूषक वंश के जन्तु में शृङ्ग या मृग-शृङ्ग का अभाव होता है। नर में हाथी दाँत की भाँति ऊपरी हनु में बढ़े हुए रदनक दांत होते हैं तथा आमाशय में केवल तीन खंड होते हैं। हिरनमूसा या हिरणमूषक ही इस वंश का प्रतिनिधि है। दक्षिण-पूर्वी एशिया के अनेक भागों में छोटी वनस्पतियों के जङ्गलों में हिरनमूसा बहुसंख्यक पाया जाता है। इसकी ऊँचाई १२ इन्च से कभी अधिक नहीं होती। इसके शरीर का रंग धब्बा हीन रक्तिम वर्ण का होता है। यह एक उल्लेखनीय बात है कि अधिकांश शृंगहीन मृगों की जातियों में नर को प्रकृति द्वारा हाथी दाँत समान रदनक दाँत प्राप्त होते हैं जिनसे वे शत्रु से रक्षा पाने के लिए प्रहार कर सकते हैं।

जुगाली करने वाले जन्तुओं के अन्य सभी वंशों के जन्तुओं में आमाशय में चार खंड होते हैं। तथा उनमें साधारणतया या कम से कम नरों में शृङ्ग की व्यवस्था अवश्य पाई जाती है, जो ठोस होती है। अतएव इन मृगों को ठोस शृंगो नाम दिया जा सकता है। मृग वन्श कहने का अर्थ भी ठोसशृङ्गी वन्श समझना चाहिए। ये शृङ्ग स्थायी नहीं होते बल्कि प्रायः प्रति वर्ष या इससे न्यूनाधिक समय में गिर जाया करते हैं। इस लिए इन्हें शृङ्गपाती कहना अधिक उचित है। उनके ऊपरी जबड़ों में कर्तनक (सामने के) दाँतों का सर्वथा अभाव रहता है। उसकी जगह मसूड़े की एक कठोर गद्दी होती है। नीचे के हनु के कर्तनक दाँत ठीक उस

गद्दी से सम्पर्क करते हैं। इस कारण ये जंतु घास पात को ऊपरी जबड़े की गद्दी तथा निचले जबड़े के कर्तनक दाँतों के मध्य दबाकर नोच लेते है। चर्वणक दाँतों के शीर्ष रेखा रूप के उभाड़ तथा गड्ढे एकान्तर रूप से सज्जित रखते हैं जिससे घास चबाने का काम सुचारु पूर्वक लिया जा सकता है। अपने निचले जबड़े को एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व की ओर घुमा घुमाकर वे चारा को कुचल लेते हैं। मृग वंश की जातियों में कम से कम नर में शृङ्ग की उत्पत्ति एक विशेषता होती है। इस की एक जाति में तो मादा के भी शृङ्ग निकलता है। गाय बैल या ढोरों की सींगों से मृगों की सींगें विभिन्न होती हैं। मृगशृङ्ग ठोस अस्थीय रचना होती है, प्रायः प्रतिवर्ष झड़ कर गिर जाती है तथा उसकी जगह नया ठोस शृङ्ग निकलता है। उस पर शृङ्गीय पदार्थ की कोई तह नहीं मढ़ी होती। प्रतिवर्ष वसंत में अस्थीय कपाल से एक जोड़े मखमली उभाड़ निकले दिखाई पड़ते हैं। उसकी स्थिति ठीक आँख के ऊपर पीछे की ओर होती है। वह बड़ी शीघ्रता से वृद्धि कर लम्बोतरे बनते हैं। रक्त-नलिकाओं से उनका प्रचुर पोषण होता है। कुछ समय में पूर्ण अस्थिशृंग की रचना हो जाती है। उस पर मखमली त्वचा की पर्त तब भी मढ़ी ही रहती है। उस के पूर्ण बढ़ जाने पर मृग मखमली आवरण को शृंग से झाड़ने लगता है जिससे ठोस स्वच्छ एवं कठोर भाग रह जाता है। संघर्ष के समय मृग उस मृगशृंग का उचित रूप से उपयोग कर सकता है। मृग बहु पत्नीवाद का अनुयायी है। इस कारण सन्तानोत्पादन काल में अन्य सजातीय नर मृगों से मुठभेड़ कर अधिक से अधिक मादा मृगों को प्राप्त करने का समय आता है। उसके लिए ठोस शृंग ही सबसे अधिक प्रबल अस्त्र होते हैं। अन्य शत्रुओं से बचत का भी यही साधन होता है। शीत ऋतु के अन्त

में अस्थिश्रृंग आधारस्थल में शिथिल पड़ जाते हैं। कुछ सप्ताहों पश्चात् ही नए मृगश्रृंगों की रचना प्रारम्भ हो जाती है। कुछ मृग कई वर्ष में एक बार श्रृंग गिराते हैं परन्तु एक जाति में तो वर्ष में दो बार श्रृंग गिरकर नए उग आते हैं।

मृगों के ठोस श्रृंग अनेक जातियों में अनेक रूप के पाए जाते हैं। किसी में तो केवल कुछ इन्च लम्बे खूँटी समान ही ही मृगश्रृंग होते हैं किन्तु किसी जाति में उनका आकार ५ फुट लम्बा हो जाता है और उनका फैलाव ६ फुट दूर तक पाया जाता है। इन श्रृंगों की वृद्धि आहार की न्यूनता या प्रचुरता पर भी निर्भर करती है। वयस्क अवस्था प्राप्त होने तक प्रति वर्ष मृगश्रृंग लम्बे ही होते जाते हैं और उनमें शाखाओं की वृद्धि होती जाती है, किन्तु वृद्धावस्था पहुँचने पर लुप्त होने लगते हैं। श्रृंगों का रूप उनकी अवस्था का भी परिचायक हो सकता है परन्तु वृद्धावस्था में शाखाओं की सब से अधिक संख्या नहीं पाई जा सकती।

कुछ अपवादों को छोड़कर सभी मृगों के नर में श्रृंग निकलते हैं तथा अधिकांश में पैर में एक गंध-ग्रंथि भी होती है। ये विभिन्न क्षेत्रों में निवास करते पाये जाते हैं। दौड़ने तथा छलांग भरने में तो शाकाहारी जन्तुओं में कोई भी उसका सामना नहीं कर सकता। जितने धावक स्थलजीवी जन्तु हैं उनके शिशु इतने शक्तिसम्पन्न उत्पन्न होते हैं कि कुछ समय तक ही माता के साथ रहकर भागने का कौशल दिखलाने लगें। मृगों के छौने या शिशु (मृग-शावक) भी कतिपय दिनों के बाद ही अपनी माता के साथ दौड़ लगाने लगते हैं।

भाव प्रकाश में मृगों या हरिणों के विभेद का निम्न रूप में वर्णन किया गया है :—

हरिणैण कुरङ्गर्ष्य पृषतन्यंकुशम्बराः ।
राजीवोऽपि च मुण्डी चेत्याद्या जाङ्गल संज्ञकाः ॥८॥

अर्थ—हरिण, एण, कुरंग, ऋष्य, पृषत, न्यंकु, शम्बर, राजीव और मुंडी इत्यादि पशु जांगल संज्ञक हैं।

हरिणस्ताम्रवर्णः स्यादेणः कृष्णः प्रकीर्तितिः ।
कुरङ्ग ईषताम्रः स्यादेण तुल्याकृति महान् ॥९॥
ऋष्यो नीलाङ्गको लोके स रोझइति कीर्तितः ।
पृषतश्चन्द्रबिन्दुः स्याद्धरिण किञ्चिदल्पकः ॥१०॥
न्यंकुर्बहुविषाणोऽथ शम्बरो गवयो महान् ।
राजीवस्तु मृगोगेयो राजिभिः परितोवृतः ॥११॥
यो मृगः शृङ्गहीनः स्यात्स मुण्डीति निगद्यते ।

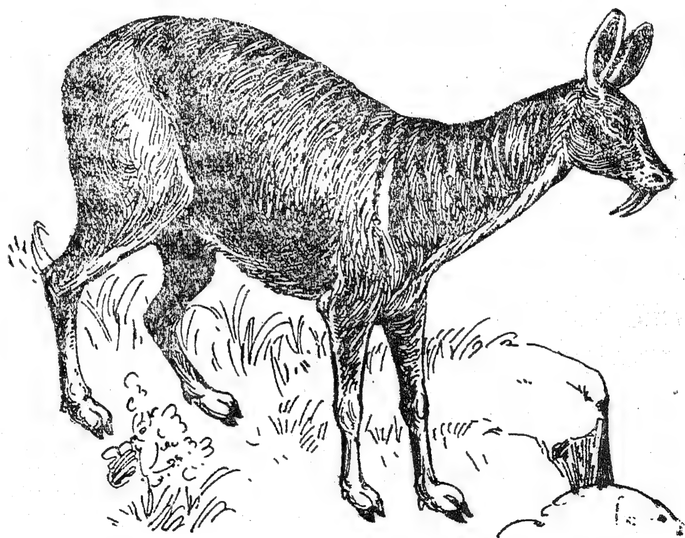
अर्थ—जो मृग लाल वर्ण (ताम्रवर्ण) का हो उसको हरिण, जो काला हो उसे एण, किञ्चित लाल वर्ण का बड़ा और एण के सदृश आकृति वाला हो उसको कुरंग, जो नीले वर्ण का हो उसको ऋष्य और लोक में रोझ, जो चन्द्रविन्दु के सदृश छीटों वाला हो और हरिण से कुछ छोटा हो उसे पृषत, जिसके बहुत से सींग हो उसे न्यंकु, (बारहसिंगा), बड़े रोझ को शम्बर, जिसके शरीर में अधिक रेखा पड़ी है, उसे राजीव और जो मृग सींग रहित होता है उसको मुंडी कहते हैं।

इन प्राचीन विभेदों को वर्तमान वैज्ञानिक विभागों में बैठाना कठिन हो सकता है, परन्तु विशेष जातियों के नाम अवश्य ग्रहण करने योग्य हैं। भारतीय स्तनपोषी जन्तुओं के वर्णन में इन नामों का समाविष्ट करना उचित होगा। "खुर वाले जानवर" नामक पुस्तक में इन नामों पर विचार किया गया है।

मृगों की जातियों में कस्तूरी मृग उल्लेखनीय स्थान रखता है। यह मृग शृङ्गहीन होता है। इसके मुख से हाथी दाँत की भाँति

तीन इंच लम्बे रदनक दाँत बाहर निकले होते हैं। अधिकांश मृग वंश की जातियों में पिछले पैर की अँगुलियों के मध्य गंध-ग्रंथियाँ होती है। पर कस्तूरी मृग में उसका अभाव होता है किन्तु उदर भाग में गंध-ग्रंथि ऐसी होती है जिसमें संसार की बहुमूल्य वस्तु कस्तूरी रहती है। कृत्रिम कस्तूरी बनाने में सफलता प्राप्त कर ली गई है जिसके आगे मृग से कस्तूरी प्राप्त करने की कोई आवश्यकता नहीं रह गई। अतएव अब यह जन्तु आखेट किए जाने की यातना से वंचित रह कर अपनी सन्तान-वृद्धि निष्कंटक करता रह सकता है।

कस्तूरीमृग हिमालय तथा उसके निकटवर्ती क्षेत्रों का निवासी



कस्तूरी मृग

है। इसकी ऊँचाई केवल दो फुट होती है। इसका शरीर लम्बे

मोटे बालों से आच्छादित होता है जिनका रङ्ग गहरा भूरा होता है। इसके पैर भी विशेष रूप के होते हैं। उनमें टाप (खुर या शफ) बहुत अधिक फटा होता है तथा अन्य दिखाऊ खुरों के जोड़े चङ्गुलनुमा होते हैं। इसके कारण उसे कहीं बेढब स्थानों में चढ़ उतर सकने में सुविधा होती है। इसका कस्तूरी मृग नाम पड़ने का कारण उदर की थैली या नाभि में कस्तूरी नामक तीव्र गंध की वस्तु उत्पन्न करना है। इसके लिए शिकारी पकड़ने के लिए धोखे से काम लेते हैं। चारा मिलने के स्थानों की ओर इसके जाने के मार्ग में ऊँचे बाड़े से बनाए जाते हैं। उनमें नीचे की ओर कस्तूरी मृग के जाने योग्य द्वार भी होते हैं, परन्तु उनके अन्दर से होकर जाते ही मृग पाशवद्ध हो जाता है। यदि उसे पकड़ने के बाद कस्तूरी की थैली निकालने पर शिकारी अपनी नाक पहले ही बन्द कर सुरक्षित कर लें तो भयंकर गन्ध के मारे शिरोपीड़ा होने लगे तथा नासिका से रक्तस्राव होने लगे। आर्द्र रहने पर उसमें दुर्गंधि रहती है, परन्तु सूखने पर मोहक सुगंधि आने लगती है।

अरुण मृग की जातियाँ योरप, उत्तरी अफ्रीका, ईरान, तथा पश्चिमी एशिया में पाई जाती हैं। काश्मीर का हंगूल या काश्मीरी बारहसिंगा इसी प्रकार की एक जाति का होता है। अरुण मृग ग्रीष्मऋतु में रक्तिम भूरे रङ्ग का होता है किन्तु शीतकाल में धूसर सा हो जाता है। अल्पवय अरुण मृग पृष्ठ तथा पार्श्व भागों में श्वेत रंग से चित्रित होता है। मादा अपने नवजात शिशु को कहीं झाड़ी या घास-पात में छिपा रखती है जहाँ वह सारे दिन सिर नहीं उठाता तथा अपने मुख को नाक से चिपका कर कुत्ते की भाँति सिमटा पड़ा रहता है। मादा शिशु पर दूर से ही दृष्टि रखे रहती है किसी जन्तु का शिशु पर आक्रमण होने पर वह रक्षार्थ वहाँ पहुँच भी सकती है।

अरुणमृग में गर्भाधान के लिए मादा को आकर्षित करने के लिए उत्पन्न शब्द सिंह के दहाड़ने के समान ज्ञात होता है।

रेनडियर ऐसा मृग है जिसे मनुष्य ने बहुत ही प्राचीनकाल में लगाम लगाकर अपनी चाकरी में लगाया। रेन शब्द का अर्थ लगाम है अतएव रेनडियर का अर्थ लगाम लगा हुआ मृग हुआ। ध्रुवीय प्रदेशों में बिना पहिए की स्लेज गाड़ियाँ इन मृगों से खिंचवाने की युक्ति मनुष्यों ने बहुत ही प्राचीन काल से सीखा है। उत्तरी योरप, एशिया तथा अमेरिका में यह शीत भूभागों में वन्य रूप में पाया जाता है। अन्य अनेक स्थानों में इसे जहाँ जलवायु अनुकूल होने से ले जाना सम्भव हो सका है, मनुष्य द्वारा पहुँचाया गया है। यह केवल शैवाल खाकर भी सुन्दर रोम, मांस तथा दूध प्रदान करता है। अमेरिका में यह कैरिबाऊ नाम से प्रसिद्ध है, परन्तु एशिया तथा योरप के रेनडियर के प्रायः समान ही है। कनाडा में यह झुण्डों में एकत्र होता है। घोर शीत के आगमन पर दूसरे स्थान पर प्रवास करने जाने पर इसके झुण्ड के झुण्ड अटूट श्रृंखला रूप में कई दिनों तक कुछ स्थानों से रात दिन होकर जाते देखे जा सकते हैं। एक रेनडियर जब पहले-पहल इंगलैंड की एक प्रसिद्ध जन्तुशाला के लिए लाया गया तो यह अनुमान किया गया कि ध्रुवीय प्रदेशों के शैवाल वनस्पति को छोड़कर वह कोई अन्य पदार्थ खा ही न सकता होगा, अतएव उसके खाने के लिए दूर के स्थानों से उसका स्वाभाविक आहार शैवाल ही मँगाया गया परन्तु मँगाने में कुछ समय लगा, तब तक वह अन्य वनस्पति खाने लगा। अंत में जब शैवाल आ पहुँचा तो रेनडियर ने उसे खाना अस्वीकार कर दिया और अन्य वनस्पति ही खाता रहा। यह उसकी साधारण प्रकृति में थोड़े समय के प्रवास का परिणाम था। जन्तु-जगत में नई परिस्थितियों तथा

निवास स्थलों के अनुकूल स्वभाव बना लेने की स्वाभाविक प्रवृत्ति प्रायः पाई जाती है।

अरुणमृग में शिशु अवस्था में एक वर्ष की आयु में एक जोड़े शाखाहीन शृंग निकल आते हैं। ठोस शृंगवंश की ही जाति होने से वे शृंग ठोस अस्थिखंड के होते हैं। दूसरे वर्ष जब इस शृंग के गिर जाने पर नया ठोस शृंग निकलता है तो उसमें भौंकी ओर



हंगुल

शाखा फूट निकलती है। इसी प्रकार प्रति वर्ष सींग के गिर कर उत्पन्न होने पर शाखा अधिक होती जाती हैं। अन्त में प्रति शृंग

में पाँच फांकें विभिन्न स्थलों पर निकले होते हैं। यह वय-प्राप्त अरुणमृग या काश्मीरी बारहसिंगे (हंगूल) की ठोस सींग का रूप होता है। अन्य बारहसिंगों में प्रत्येक सींग में २० या इससे भी अधिक शाखाएँ फूटी होती हैं। एक निश्चित संख्या की शाखाएँ ही विभिन्न जातियों में उत्पन्न होती हैं। किसी जाति की निर्दिष्ट संख्या की शाखाएं पूर्ण हो जाने पर वे प्रतिवर्ष पुष्ट होने लगती हैं किन्तु उसकी भी कुछ सीमा होती है। कुछ वर्षों के पश्चात् उन सीगों का रूप क्षीण होने लगता है। वयस्क साँभर, चीतल तथा शूकर मृग में प्रत्येक सींग में तीन फांक या शाखाएं ही निकलती हैं।

जब प्रति वर्ष सींग गिर जाती है तो उसके कुछ दिनों के बाद ही त्वचा की मखमली तह उभड़ती है। उसी के अन्दर सींग का अस्थिखंड बढ़ने लगता है। एक निर्धारित अवधि तक सींग का आकार पूर्ण हो जाता है किन्तु उसके ऊपर वह मखमली आवरण लगा ही रहता है। उसे मृग कहीं वृक्ष या उसकी छाल या घास-पात से रगड़ कर नग्न करता है। नीचे दृढ़, अस्थिशृंग खुला बन जाता है। जब तक यह नग्न अस्थिखंड के खुले रूप का शृंग पूर्ण नहीं हो जाता, मृग किसी शत्रु से संघर्ष करने के लिए सींग का उपयोग नहीं करता। अपने अगले पैरों का ही प्रयोग कर बचने का उद्योग करता है।

कनाडा का एल्क या मुज नाम की जाति का मृग सबसे अधिक बड़ा मृग होता है। नर में कंठ से बालों का गुच्छ लटकता रहता है। नाक चपटी तथा शुंडवत होती है। सींग की शाखाएं हथेली की उँगलियों की तरह फैली होती हैं। इसकी सींगों का फैलाव चार फुट के लगभग होता है। इसका मांस सुस्वादु होने के कारण लोगों ने आखेट कर इसकी जाति लुप्त करने का अवसर उपस्थित किया

परन्तु संरक्षण की व्यवस्था होने से इसकी जाति जीवित रह कर बढ़ सकी। पूर्वकाल में अमेरिका के मूलवासी विचित्र कौशल से इसका आखेट किया करते थे। कहा जाता है कि किसी शृंगी (तुरही) वाद्य यंत्र से वे उसकी स्वभाविक बोली का अनुकरण कर सुनाते। अतएव धोखे में पड़ कर वह निकट चला आता। फिर अपने बाणों से उन्हें विद्ध कर देते। मादा एल्क के संबन्ध में यह प्रसिद्ध है कि अपने शिशु की रक्षा के लिए वह बिल्कुल निडर होकर शत्रु पर प्रहार कर सकती है। वह अपने अगले पैर के पैने खुरों से प्रहार कर रीछों तथा बनविडालों तक को मार डालती है। नर एल्क शीत ऋतु में पाँच छः या अधिक मृगी को साथ रखने के लिए बर्फ की मोटी तह हटाकर स्थान बनाता है। यह अन्य मृगों से न्यून वेगशील होता है।

मुतंजक या पिंडलमुखी मृग को भौंकने वाला मृग भी कहा जाता है। यह भारत तथा पूर्वी एशिया में पाया जाता है। इसके मुख पर विचित्र रूप के पसलीनुमा उभाड़ (पिंडल) होते हैं। सींग छोटी तथा शाखामय होती है। ऊपरी रदनक दाँत हाँथी दाँत समान प्रवद्धित किन्तु नीचे की ओर वक्रित होते हैं। उनका उपयोग भूमि से जड़ें खोद निकालने तथा शत्रु से रक्षा पाने में होता है। यह प्रायः निश्शब्द ही रहता है। केवल संतानोत्पादन ऋतु में शब्द करता है। उस समय कुत्ते के भौंकने समान शब्द करने की शक्ति इसमें उत्पन्न हो आती है।

फैलो मृग सारे संसार की जंतुवाटिकाओं में फैला पाया जाता है किन्तु पहले यह केवल भूमध्यसागरी क्षेत्र तथा एशिया माइनर का निवासी था। अधिकांश युवा मृगों में जहाँ धब्बों के चित्रण विशेष रूप के होते हैं जो वयप्राप्त हो जाने पर लुप्त या परिवर्तित हो जाते हैं, वहाँ फैलो मृग में ये बालकालीन चित्रण आजीवन बने

रहते हैं। किन्तु ऋतु के अनुसार उसमें विभेद होते हैं। ग्रीष्मकाल में इसके शरीर का रंग लालिमा युक्त भूरा तथा श्वेत चित्तियों युक्त होता है, परन्तु शीतकाल में चित्तियाँ मिट सी गई होती हैं और रंग अधिक धूसर बन गया होता है। आयरलैंड के प्राचीन प्रस्तरावशेषों में आयरीय एल्क नामक विशाल मृग की जाति पाई जाती है, वह फैलोमृग की निकटवर्ती जाति ही है। इसकी सींगों का फैलाव आठ फुट होता था। वह ऐतिहासिक युग के आगमन के पूर्व ही विलुप्त हो गई। साधारणतः फैलोमृग के स्कंध प्रदेश के निकट तीन फुट ऊँचाई होती है।

ईरानी फैलोमृग साधारण फैलोमृग की अपेक्षा बड़ा तथा अधिक चटकीले रंग का होता है। इसकी सींगें अधूरे रूप में ही करतलवत् शाखाबद्ध होती हैं। यह मेसोपोटामिया का फैलोमृग भी कहा जाता है। ईरान के ल्यूरिस्टन पर्वत में रहता है। उसकी सींगें करतलवत शाखाबद्ध होती हैं किन्तु मूज या कनाडा के एल्क समान अधिक शाखाबद्ध नहीं होतीं। कहा जाता है कि साधारण फैलोमृग की सींग उछलनशील होती है। इस कारण दो फैलो मृगों के द्वन्द्व युद्ध करने पर उनकी सींगें परस्पर आबद्ध भी हो सकती हैं। ऐसी अवस्था में उन दोनों असहाय प्रतिद्वन्द्वियों को या तो कोई हिंसक पशु ही आकर आखेट बनाकर जीवनमुक्त करता है अथवा अधिक समय तक निराहार पड़े रहने से कृशकाय होने के कारण सींगों के शिथिल पड़ जाने से यह घातक शृंगबंधन छूटता है।

मृगों को शृंगपाती कहते हैं। साधारण शब्दों में इसे सींग झाड़नेवाला पशु कह सकते हैं। किन्तु सींग झड़ने का समय प्रत्येक जाति के शृंगपाती के लिए नियमित रूप से वार्षिक होना आवश्यक नहीं होता। उदाहरणतः भारत के धुरीमृग (ऐक्सिस

डियर) में अनियमित अवधि के अंतर से सींग झड़ते देखा जाता है। कभी-कभी तो कई वर्षों तक उसकी सींग नहीं झड़ती। इसके विपक्ष उत्तरी चीन के पियर डेविड मृग नामक शृंगपाती को वर्ष में सींग झाड़ने की दो बार आवृति करते पाया जाता है।

इसी प्रकार शब्द करने की भी बात है। अधिकांश छोटी जाति के शृंगपातियों अर्थात् मृगों में गर्भाधान ऋतु में भी मुख से शब्द करने का कृत्य नहीं देखा जाता। वे अपने चर्वणक दाँतों के परस्पर संघर्षण से ही कुछ ध्वनि उत्पन्न कर दिखाते हैं।

अमेरिका के एल्क या वैपिटी मृग का आकार कनाडा के एल्क (मूज़ मृग) से कुछ छोटा होता है। उसकी सींग योरप के अरुण मृग समान होती है। गर्भाधान ऋतु में यह बड़ा भीषण आक्रामक बन जाता है। मार्ग में चलने वाले व्यक्तियों तथा मोटर गाड़ियों का भी मार्ग अवरुद्ध कर देता है।

जापान का एक मृग पंकलोटन कहा जा सकता है। इसे वहाँ पूज्य भी मानते हैं। इसके शावक को बड़ी धूम-धाम से चिन्हित करने का उत्सव होता है। किन्तु परोपजावी कीटों, किलनी आदि का उन मृगों पर बहुत अधिक प्रकोप होता है। उनसे बचने के लिए ये मृग कीचड़ में लोटकर शान्ति का अनुभव करते हैं। अतएव इस जापानी मृग का नाम पंकलोटन बहुत ही युक्ति-संगत है।

चीन का जलमृग शृंगहीन मृग है। इसके रदनक हाथी दाँत समान बढ़े होते हैं। यह जलमग्न भूमि में रहता है। और धान के खेतों को भारी क्षति पहुँचाता है। यह रात्रिचारी होता है। स्कंध प्रदेश के निकट २० इंच ऊँचाई होती है। ग्रीष्म में हलका लाल भूरा रंग होता है। शीत ऋतु में काले धब्बों युक्त गहरा भूरा रंग

होता है। शावक में श्वेत धब्बे होते हैं। यांग्सी क्यांग से कोरिया तक मिलता है।

हिरण नाम से उन जंतुओं को पुकारना उचित है जो वृषभ महिष, छाग, मेष आदि की तरह खोखली सींग वाले होते हैं, परन्तु शरीर का रूप मृगों सा ही होता है। इनको अधिक स्पष्ट करने के लिए स्थिरशृंगी कहना उचित हो सकता है किन्तु संक्षेप में हिरण कहने से इनका ही बोध होना चाहिए। इनकी जातियाँ पहले व्यापक क्षेत्रों में प्रसारित थीं किन्तु आधुनिक काल में एशिया और अफ्रीका में ही पाई जाती हैं। इन महाद्वीपों में भी अफ्रीका में इनका सबसे अधिक प्रसार है। जातियों की संख्या, विभिन्न आकार प्रकार का भी सर्वोच्च रूप अफ्रीका में ही पाया जाता है। इनकी सींग में शृंगीय पदार्थ की खोल होती है। उसमें बैल गाय आदि की सींगों की तरह भीतर अस्थि का आधार होता है। पैर में दो पादांगुलियाँ भूस्पर्शी होती हैं। वे ही व्यावहारिक होती हैं। शेष दो पादांगुलियाँ बैलों की भाँति ऊपर उठी हुई पीछे अव्यावहारिक रूप में पड़ी रहती हैं। उन्हें मिथ्या या दिखावटी पादांगुलि नाम दे सकते हैं।

अफ्रीका में हरिणों का प्रसार अनेक रंग रूपों के साथ सारे भूभागों में है परन्तु दक्षिण के विशाल हरे-भरे भागों में इनका अत्यधिक प्रसार है। ये प्रायः सिंह तथा चित्रव्याघ्र का सामनाकर सकने के लिए यथेष्ट सशस्त्र होते हैं किन्तु कुछ अपवादों को छोड़ कर उन्हें विशेषतः शान्तिप्रिय ही पाया जाता है। केवल गर्भाधान ऋतु में ही नरों के मध्य घोर संघर्ष पाया जाता है। अधिक प्रमुख हरिणों की जातियाँ विशाल झुन्डों में एकत्र होती हैं। अनेक जातियों के झुन्ड किसी विशाल संघ रूप में भी एकत्र होते हैं जिनमें ज़ेब्रा, जिराफ, शतुर्मुर्ग आदि भी सिंह सदृश प्रबल शत्रुओं

से रक्षा पाने के लिए विशाल समुदाय में सम्मिलित पाए जाते हैं।

हरिणों के प्रायः एक संतान ही एक बार में उत्पन्न होती है। शावक कुछ घन्टों बाद ही चल फिर सकने में समर्थ होता है। किंवदंती है कि एक बार माँ का दूध पी लेने के पश्चात् हरिण में गति का संचार हो जाता है। जिनको जीवन आश्रयहीन रहकर सदा व्यतीत करना है उनके शावकों का शीघ्र से शीघ्र चलने में समर्थ होकर माता पिता की भाँति जीवन की भाग-दौड़ में सम्मिलित होना आवश्यक ही हो सकता है। हरिण दिन भर चरने के पश्चात् सन्ध्या होने के पूर्व एक बार किसी जलाशय या नदी के समीप पानी पीने अवश्य जाते हैं। यह वृत्ति उनके हिंसकों को भी कदाचित् ज्ञात रहती है। अतएव वे इनका आखेट करने की टोह में ऐसे नियमित स्थानों के निकट पहुँचते हैं। शिकारी मनुष्य भी इन स्थानों पर सन्ध्या के समय इन हिंस्य जानवरों के एक बार निश्चित रूप से आने की बात जानकर उनका सहज शिकार करने पहुँचते हैं।

हरिणों के शरीर पर परोपजीवी कीटों, किलनी आदि का निवास होता है। उनको खाने के लिए कुछ पक्षी उनके निकट पहुँचते हैं। गोबलाका भी ऐसा ही पक्षी है। ये पशु इन पक्षियों को अपना हितू सा समझकर शरीर पर बैठने या निकट पहुँचने देते हैं जिससे किलनी या अन्य परोपजीवी कीटों का आहार कर वे पक्षी उनको कुछ सुख पहुँचा सकें। हिंसक जंतुओं के अतिरिक्त मनुष्य की आखेट-वृत्ति तथा आहार के लिए मांस प्राप्त करने के कारण हरिणों का बध तो प्राचीन काल से अनेक देशों में होता आ रहा है परन्तु आधुनिक अस्त्र-शस्त्रों के कारण तो उनकी कितनी ही जातियाँ लुप्त होने लग गई थीं। संरक्षण करने के कारण अब

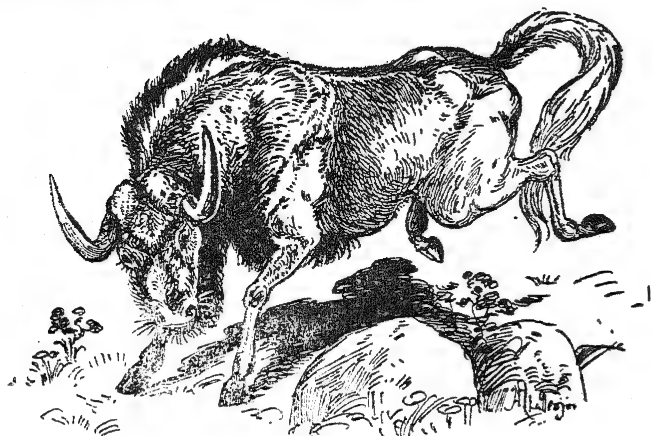
उनकी संख्या न्यून होने या जाति लुप्त होने से बचने लगी है। इसके लिए कुछ विशेष स्थलों के जंगल राज्याज्ञा द्वारा संरक्षित क्षेत्र घोषित कर दिए जाते हैं।

हरिणों की कितनी ही जातियाँ डीलडौल में गाय के बराबर होती हैं परन्तु उनका शरीर अधिक हल्का होता है। ऐसी जातियों में सैबुल, रोम, ओरिक्स आदि का नाम लिया जा सकता है। सैबुल जाति का हरिण दक्षिणी तथा उष्ण कटिबंधीय अफ्रीका का निवासी है। इसकी सींग पीछे की ओर मुड़ी होती है। वह बड़ी पुष्ट होती है तथा हल्के रूप में आड़ी समानान्तर गड्ढों और उभाड़ों युक्त होती है। ऐसे रूप के तल को घुँघराले बालों रूप में एकान्तर रूप से आड़ी ऊँचाई-निचाई होने के कारण कुंचितीय कह सकते हैं। इस हरिण के शरीर का रंग गहरा बादामी होता है। अन्य जातियों की भाँति इसके भी मुख पर अद्‌भुत काले तथा श्वेत रंग के धब्बे होते हैं। कटि प्रदेश पर दूज के चाँद की आकृति का श्वेत धब्बा होता है। यह वस्तु निर्माणशालाओं के विशिष्ट व्यापारिक चिन्हपट की भाँति उसका चिन्हपट या जाति-निर्देश पट कहा जा सकता है जिसे पीछे से ही देखकर अन्य सजातीय हरिण किसी नेता हरिण का अनुगमन कर सकें।

ऐडेक्स हरिण में सींगें सीधी और सर्पिलाकार ऐंठन युक्त होती हैं किन्तु ओरिक्स प्रजाति के हरिणों में सींग गज भर लम्बी तथा हल्की सर्पिलाकृत या बिल्कुल चिकनी होती है। यदि इसकी सींग पार्श्व भाग से देखी जाय तो मालूम पड़ सकता है कि एक ही सींग है।

हार्टीबीस्टी, नू (अश्वांगी) तथा वाइल्डबीस्टी (जंगली या उद्धत) नाम हालैंड वालों द्वारा रक्खे गए हैं। ये हरिण बड़े आकार के होते हैं जिनके मुख अद्‌भुत रूप के लम्बोतरे होते हैं। इनकी

नासिका अधोमुखी रूप में होती है। कदाचित रेत से भर जाने से बचाने के लिए ही उनकी नासिका ऐसे रूप की होती है। नू



महिषाश्व (नू) हरिण

तथा वाइल्डबीस्टी बड़ी भयंकर वृत्ति के होते हैं। ये किसी असाधारण वस्तु को देखकर अद्‌भुत रूप की उछल-कूद करने लगते हैं। इसी कारण इन्हें 'जंगली जन्तु' (वाइल्डबीस्टी) सा नाम पड़ा है। ये हरिण अश्व समान आकृति के होते हैं। गर्दन पर लम्बे अयाल (केशर) होते हैं। पूँछ चँवर समान होती है। मुख लम्बा होता है। नासिका चौड़ी तथा अर्द्धखंडित या बाँडी सी होती है। उसमें प्रचुर कड़े बाल उगे होते हैं। सींगें बाहर की ओर मुड़कर पुनः कस्तूरीवृषभ की भाँति नीचे झुकी होती हैं।

जलहरिण बड़े या मझोले कद का पशु होता है। केवल नर में सींग होती है। इसका रंग श्वेत धब्बों तथा पट्टियों युक्त गहरा

भूरा होता है। वह पश्चिमी अफ्रीका में जंगलों के मध्य सोतों या नालों के निकट रहता है। उनसे अधिक से अधिक एक मील दूर तक जाता है। यह जलजीवी है। शत्रु से रक्षा पाने की कला में प्रवीण होता है।

ब्लेस्बाक छोटे आकार का हरिण है। यह केप प्रान्त के संरक्षित जंगल में ही पाया जाता है। जन्तुशालाओं में भी लाया गया है। इसका मांस सुस्वादु ही नहीं होता, बल्कि सुखाया मास अधिक समय तक रह सकता है। इस कारण लम्बी यात्रा के लिए उसका उपयोग होता था। इस कारण इसका बहुसंख्यक बध हो सका।

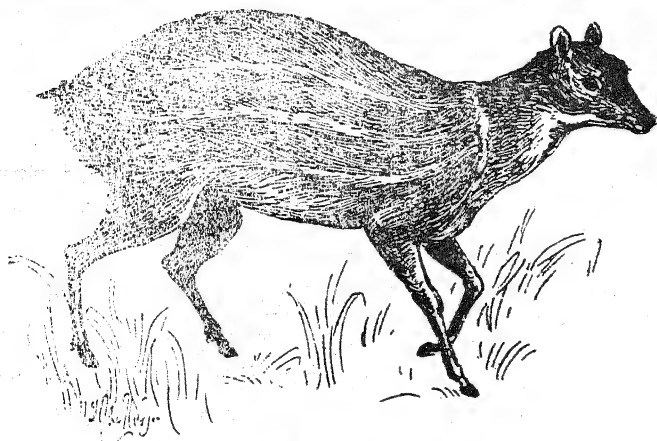
एलेंड हरिण सबसे वृहद् आकार के हरिण होते हैं। इनकी सींग सीधी या थोड़ी सर्पिलाकृत होती है। शरीर पर हल्के रङ्ग की आड़ी या खड़ी पट्टियाँ होती हैं। शुद्ध एलेंड का आकार घोड़े के बराबर होता है। नर के शरीर का भार बारह चौदह मन तक होता है।

कूडू हरिण एलैंड हरिण से कुछ ही छोटा होता है। यह भव्य आकार का होता है। इसकी सींग कार्क स्क्रू समान ऐंठन युक्त तथा दीर्घ आकार की होती है।

चतुःशृङ्गी हरिण भारत का हरिण है। इसके नर में आगे पीछे दो जोड़े सींगें होती हैं। अगले जोड़े की सींगें बहुत छोटी होती हैं। पश्चिमी एशिया तथा रूस के स्टेपी प्रदेश का चतुःशृङ्गी दूसरी जाति है उसके नर में दीर्घकाय बौंड़ी नासिका होती है। नालिकाकार नासिका संकुचित हो सकती हैं जिससे नासिका-रंध्र में रेत न जा सके।

गजेले (क्षुद्र हरिण) का प्रसार अफ्रीका, अरब तथा भारत में पाया जाता है। ये क्षुद्रकाय हरिण होते हैं। आकार कदाचित् ही छाग से बड़ा होता है। दुर्बलकाय और अत्यन्त क्षीण दुर्बल

पगों युक्त होते हैं। किन्तु भागने में बड़े ही तीव्रगामी होते हैं। कदाचित् चित्रव्याघ्र, लोहितशिखी मार्जार (कैरेकेल) और आखेटक श्वान समान वेग दिखा सकते हैं। इनकी कुछ मरुस्थलीय जातियाँ पानी की प्रायः बिल्कुल आवश्यकता नहीं रखतीं परन्तु बन्दी बनाए जाने पर पानी पीना सीख जाती हैं। अफ्रीका के



मुंडी या क्षुद्र मृग

ग्रांट छाग हरिण का कभी इतना अधिक बहुसंख्यक प्रसार था कि उनके प्रवास करते हुए दल के मध्य प्रायः सिंह घिर जाता था और इस विशाल गतिशील क्षुद्र हरिण संघ के साथ घिरी अवस्था में ही साथ-साथ मीलों तक चुपचाप चलने के लिए उसे विवश होना पड़ता था।

नीलगाय या ऋष्य भारत का दीर्घतम हरिण है। आकार में प्रायः एलैंड भी इसी के बराबर होता है। नर ऋष्य या नील वृषभ में ठिगनी सीधी सींगें होती हैं। यह साहसी तथा आक्रामक पशु

है। बाघ का सामना कर लेता है। भारत में इसे पूज्य पशु माना जाता है। इसे गो जाति का माना जाता है किन्तु गाय की जाति इससे भिन्न ही होती है।

डिवकर (उत्प्लावक) हरिण घास की लम्बी बाढ़ में ऊपर की ओर उछालें मार कर ऊपर से नीचे गिरते समय मुँह नीचे रखता है। सूंस (शिशुमार) के जल-तल से ऊपर उछल कर पुनः पानी में गिर जाने की क्रिया ऐसी ही दिखाई पड़ती है। इसलिए इस हरिण को ऊपर उछलने वाला या उत्प्लावक नाम दिया जा सकता है। यह सबसे छोटा हरिण होता है। खरगोश से कुछ ही बड़ा आकार होता है। अनेक शुद्ध उत्प्लावक हरिण घने जंगलों तथा कुंजों में रहते हैं किन्तु उत्तरी अफ्रीका में एक जाति क्लिप-स्प्रिंगर या पर्वतशृङ्गी उत्प्लावक होती है जो दुर्गम पर्वतों में ही रहती है। उसमें पर्वतजीवी जन्तु के गुण विद्यमान होते हैं।

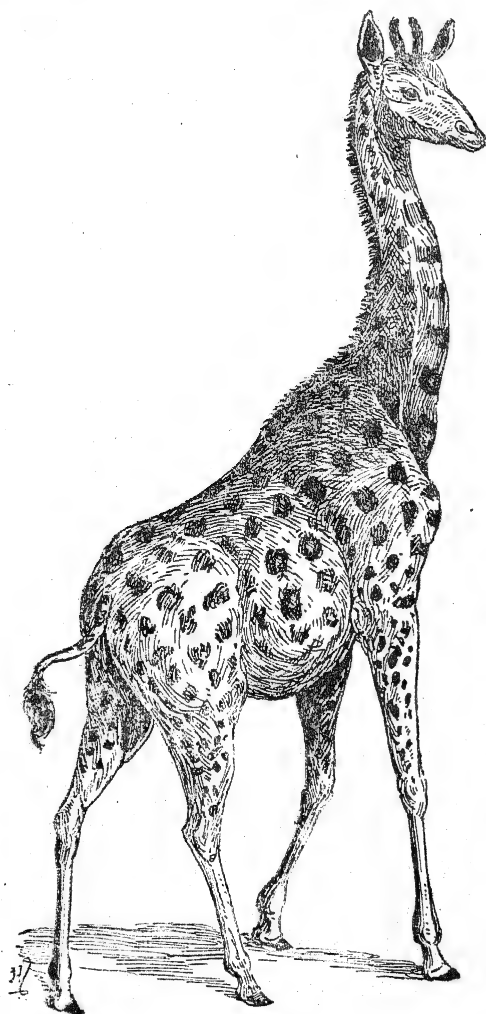
हारनेस्ड (पृष्ठासनीय या जीन लगा हुआ) हरिण विचित्र रूप का हरिण है जो पश्चिमी अफ्रीका में पाया जाता है। इसके शरीर का रंग लालिमायुक्त भूरा होता है जिस पर श्वेत धब्बों तथा पट्टियों की विचित्र व्यवस्था होती है। इस कारण ऐसा जान पड़ता है कि उसकी पीठ पर जीन (पृष्ठासन) कसा हुआ है। अफ्रीका का बोंगो हरिण भी इसी प्रकार का चित्रित होता है। वह जंगलों का निवासी होता है।

प्रांग हार्न्ड (अर्द्ध शृंगपाती) हरिण पश्चिमी संयुक्त राष्ट्र, अमेरिका और मेक्सिको में पाया जाता है। इस स्थिरशृंगी अर्थात् हरिण और शृङ्गपाती अर्थात् मृग के मध्य का पशु कहा जा सकता है। यह छाग के डीलडौल का होता है। उत्तरी अमेरिका के मैदानों में इसका पहले बहुत अधिक प्रसार था। इसकी विशेषता सींगों की विचित्र रचना है। वे नियमित अवधि के

अन्तर से झड़ जाया करती हैं। फलकीय सींग गाय की सींगों समान अस्थि के शंकुवत गूमड़ (अर्वुद) के ऊपर स्थित होती है। इस फलकीय भाग या ऊपरी आधे सींग के गिरने का दृश्य एक जन्तुशाला के कर्मचारी ने पहले-पहले देख बड़े ही विस्मय का अनुभव किया और तुरन्त ही अध्यक्ष को इस विस्मयजनक घटना की सूचना दी। संयोगवश जन्तुशाला अध्यक्ष ने स्वयं अपने नेत्रों से अन्य फलकीय सींगों के गिरने का दृश्य देखा। इस प्रकार जन्तु-जगत के इस विलक्षण कृत्य का विज्ञान जगत को ज्ञात हो सका।

ऋद्ध शृङ्गपाती हरिण बड़ा तीव्रगामी होता है किन्तु असीम भक्षण वृत्ति होने के कारण शीघ्र फंदे में फँसाकर बध किया जाता है। बन्दूक की नाल के बिल्कुल निकट तक यह .धोखे-धोखे में ही पहुँच सकता है।

जिराफ या उष्ट्रचित्रक वंश का पूर्वकाल में बहुत विस्तृत क्षेत्रों में प्रसार था। जिराफ के समान जान पड़ने वाले प्रस्तरावशेष सैमोज द्वीप में पाए गए हैं। शिवालिक पहाड़ियों में भारत में भी कंकाल मिले हैं जिनको शिवाथेरियम नाम दिया गया है। आधुनिक काल में उष्ट्रचित्रक (जिराफ) वंश का प्रसार केवल अफ्रीका में ही सीमित है। यह सूडान से लेकर उत्तमाशा अन्तरीप (केप आफ गुडहोप) तक पाया जाता है। परन्तु महाद्वीप के मध्यवर्ती भाग में बिल्कुल ही नहीं पाया जाता। ऊँट और चित्रव्याघ्र (चित्रक) के रूपों का मेल होने से ही इस जन्तु को उष्ट्रचित्रक नाम दिया जा सकता है। इस जन्तु की प्रमुख विशेषता बहुत अधिक लम्बी गर्दन है। ऊँचे-ऊँचे वृक्षों की पत्तियाँ प्राप्त करने के लिए बार-बार गर्दन ऊपर की ओर तानने के कारण दीर्घकाल में प्रकृति ने इसकी लम्बी गर्दन का विकास होने का अवसर दिया होगा। इसके पैर



जिराफ

लम्बे होते हैं। अपना मुख जल तल तक पहुँचाने के लिए या तो अगले पैर झुकाने पड़ते हैं या उनको लम्बा फैलाकर रखना पड़ता है।

वृक्षों की पत्रावली के अन्तरालों से आती हुई थोड़ी-थोड़ी धूप के कारण नीचे प्रदर्शित धूपछाँह का जो रूप होता है उसी से मेल खाता हुआ रंग उष्ट्र - चित्रक (जिराफ) के चितकबरे रंग का होता है। अतएव जंगलों में उसका रूप छिप सकने योग्य होता है। जिराफ के शरीर पर के धब्बों का रूप स्थान-स्थान

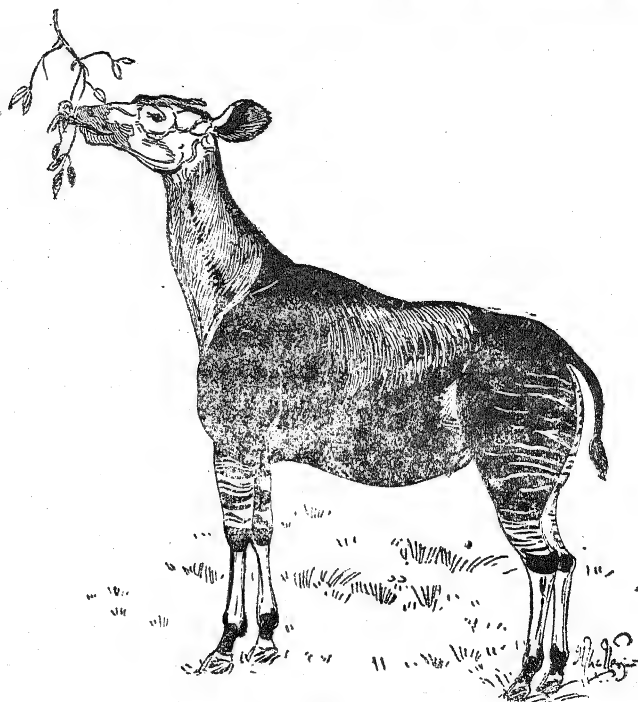
के भेद से विभिन्न होता है। अतएव उसकी कई स्थानीय जातियाँ या उपजातियाँ होती हैं। प्रायः नर में त्वचा-आच्छादित छोटी-छोटी सींगें होती हैं। माथे पर अस्थि-निर्मित अर्बुद (गूमड़) भी प्रायः पाया जाता है।

उसकी लम्बी जीभ ग्रहणशील होती है। वह पेड़ की पत्तियाँ हाथी के शुंड समान अपनी लपेट में कर नोच लेती है। जिराफ की एक विलक्षण विशेषता यह भी है कि वह सर्वथा स्वरयंत्रहीन होता है। इसे किसी भी अवस्था में कभी कोई शब्द उत्पन्न करते नहीं पाया गया है। कभी-कभी केवल श्वास को बलपूर्वक बाहर निष्कासित करने की ही ध्वनि सुनी जा सकती है।

युवा उष्ट्रचित्रक (जिराफ) की ऊँचाई अठारह फुट तक होती है। शरीर का भार एक टन होता है। एक बार में केवल एक शिशु जन्म धारण करता है। वह पाँच वर्ष में युवा होकर संतानोत्पादन करने योग्य हो जाता है और बीस वर्ष पश्चात् जनन शक्ति हीन हो जाता है। यह पूर्णतः दिवाचारी पशु है। छोटे-छोटे झुण्डों में रहता है। यह मंदगति से चलता है किन्तु कभी विवशता की अवस्था में सरपट भी भाग सकता है। इसका रक्षा साधन केवल अगले पैरों से प्रहार करना है किन्तु नरों को परस्पर द्वन्द युद्ध करने पर अपने सींग युक्त सिर से लड़ते भी देखा जाता है।

मनुष्य का अफ्रीका के जंगलों में प्रवेश होने के पूर्व उष्ट्रचित्रक (जिराफ) का एक मात्र शत्रु सिंह ही था किन्तु इसके अत्यन्त सुस्वादु मांस के कारण मनुष्य की कुदृष्टि पड़ने से इसकी भारी क्षति होने लगी। उसको संरक्षण करने से ही लोप होने से बचाया जा सका है। यह फसलों को भारी क्षति भी पहुँचाता है। इस कारण कृषक इसे रक्षा प्रदान करने से घृणा करते हैं।

उष्ट्रचित्रक (जिराफ) वंश में जिराफ को छोड़ कर दूसरी जाति ओकापी की होती है जो लुप्तप्राय जन्तु ही है। इसका बहुत पहले ज्ञान नहीं हो सका था। पहले किसी को इसकी खाल अफ्रीका के मूलवासियों की वस्तुओं में प्राप्त हुई तथा लिविंग्स्टन की बीहड़ यात्राओं के वर्णन में भी किसी ऐसे जन्तु का नाम उल्लिखित पाया



ओकापी

गया। बड़ी खोज के पश्चात् ओकापी का सजीव रूप ज्ञात हो सका। इसमें ज़ेब्रा या पट्टित गर्दभ की भाँति शरीर पर आंशिक

रूप की पट्टियाँ थीं और जिराफ से मिलता सा कुछ रूप मिला। इसलिए इसे स्वतंत्र जाति का पशु ज्ञात किया गया।

ओकापी अफ्रीका के बेलजियम कांगों में इटूरी तथा सेमलिकी जंगलों में ही पाया जाता है। स्कंध के निकट ५ फुट ४ इंच ऊँचा होता है। जिराफ से कुछ छोटा आकार होता है। नर मादा से छोटा होता है। केवल नरों में दो त्वचा-आच्छादित छोटी सींगें शंकु के आकार की होती हैं। उनके सिरे पर नग्न रूप की हाथी दाँत समान टापी होती है। कान लम्बे तथा चौड़े होते हैं। शरीर का रंग एक समान गहरा लालयुक्त भूरा होता है। जंघे, कूल्हे (नितंब) तथा अगले पैर के ऊपरी भाग श्वेत रंग के होते हैं जिस पर काली पट्टियाँ होती हैं। यह लज्जालु तथा रात्रिचारी पशु है। अकेले या जोड़े रूप में आर्द्र वनों के सबसे घने भाग में रहता है। यह विशेष प्रकार की पत्तियों पर ही जीवन निर्वाह करता है। जङ्गल में यह जिराफ से अधिक साहसी होता है। इसकी गर्दन अपेक्षाकृत छोटी होती है। पैने खुर शस्त्र का कार्य करते हैं। बन्दी रूप में केले खाकर रह सकता है। सदाबहार बलूत की पत्तियां भी खाकर जीता पाया गया है।



मांसभुज या हिंसक पशु

मांसभक्षी या हिंसक स्तनपोषियों का प्रसार सभी देशों में पाया जाता है। इन जंतुओं में सिंह, व्याघ्र, श्वान, ऋक्ष, तरक्षु (लकड़बग्घा), बिज्जू आदि की गिनती है जो अन्य जंतुओं का शिकार कर उदरपूर्ति करने की वृत्ति रखते हैं। इनमें से कुछ तो मनुष्यों का अनिष्ट कर सकते हैं परन्तु सभी हिंसक वृत्ति के होते हैं। इनके द्वारा शाकाहारी जन्तुओं की भारी संख्या-वृद्धि नहीं हो पाती।

विडाल वंश के जंतुओं में आकार, बालों के रंग तथा लंबाई में बड़ी विभिन्नता पाई जाती है। परन्तु इनकी शरीर-रचना में अत्यधिक साम्य होता है। जंतुओं के विकास में इनका जन्म अपेक्षाकृत नवीन युग का माना जाता है। किसी प्राचीन रूप के मांसभुज स्तनिन से इनकी उत्पत्ति हुई होगी। मैचेयरोडोंट्स नामक विशिष्ट विशाल की उत्पत्ति कदाचित पृथ्वी पर मनुष्य के उदय होने के समय ही हुई थी। किन्तु उस विडाल की जाति अब सर्वथा लुप्त हो गई है। उनमें ऊपरी रदनक दाँत अत्यधिक दीर्घ-काय होते थे। कटारदंती नाम के विलुप्त व्याघ्र में तो इन दीर्घकाय ऊपरी रदनकों को मुख बंद होने पर भी जबड़े से एक फुट बाहर निकला पाया जाता था। ऐसे विशिष्ट रूप के दाँत के लिए विशेष रूप का आहार भी आवश्यक था। कदाचित उनके विशिष्ट आहारों

का लोप होने पर जाति लुप्त हुई होगी और साधारण रूप के विडाल वंशीय जंतु जीवित रह सके होंगे।

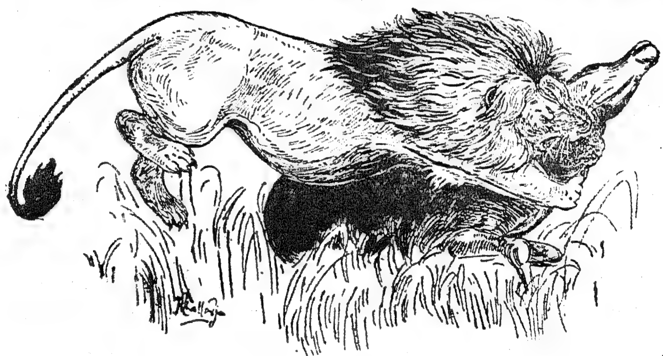
सिंह से लेकर छोटी जातियों तक विडाल वंश में पचास तक जातियाँ होती हैं। उनका प्रसार प्राय: उष्ण तथा शीतोष्ण कटिबंध में पाया जाता है। विडाल को स्वभावतया जल से दूर भागते पाया जाता है, परन्तु इस जलभीरुता को दूर कर मछली का बड़ी रुचि से आहार करने वाली जातियाँ भी पाई जाती हैं।

विडाल रात्रिजीवी होते हैं। अतएव इनका नाम प्राचीनकाल में भूत-पिशाच आदि के साथ सम्बद्ध पाया जाता था, किन्तु आज ज्ञान के प्रस्फुटित होने से ऐसे अंधविश्वासों को स्थान नहीं मिल सकता। इनमें सिंह का उल्लेख अनेक देशों की दन्तकथाओं में अनेक रूप से प्रमुख रूप में मिलता है। इस जंतु का प्रसार किसी समय विस्तृत क्षेत्रों में था। सारे योरप तथा भारत में भी प्रसार रहा होगा। पाश्चात्य देशों में अब केवल अफ्रीका में ही पाया जाता है। इंगलैंड तथा योरप के अन्य देशों से इसका सर्वथा लोप हो गया है। भारत में काठियावाड़ में ही पाया जाता है।

अधिकांश जन्तु अपने शैशवकाल में पूर्वजों का रूप प्रदर्शित कर देते हैं। मानव शिशु की ही बात लीजिए। नवजात शिशु अपने शरीर पर उगे बालों तथा पादांगुलियों की ग्रहणशीलता मानव को वृक्षचारी वनमानुसों का सहवंशी प्रकट करती । अवस्था बढ़ने पर शरीर पर के बाल गिर जाते हैं तथा पादांगुलियों की ग्रहणशीलता मिट जाती है। इस बात को विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि सिंह किसी युग में घने जंगलों का निवासी था तथा वृक्ष की पत्तियों के मध्य से छन-छनकर आती धूप के छाया से मिलकर गंगा-जमुनी या धूप-छाँह धूप की समानता करने के लिए इसके शरीर पर भी चित्रक (चित्रव्याघ्र या तेंदुआ) के समान

चित्रण होता था। सिंह-शावक के बालों का रंग चित्रित रूप में देखने से यह बात प्रमाणित सी हो जाती है किन्तु कालान्तर में वे चित्रण मिट जाते हैं और सिंह को आज का एक सपाट रंग प्राप्त होता है। कदाचित सघन बनवासी सिंह से जान बचाने के लिए उसके आखेट या हिंस्य जन्तु भाग कर खुले मैदानों में चले आते थे। अतएव जब सिंह भी खुले मैदानों में रह कर आखेट करने से उदर पूर्ति करने लगा तो पेड़ों के नीचे की धूप-छाँह के समान चित्रित शरीर रखने की उसे आवश्यकता न रही।

बड़े सिंह का आकार १० फुट लंबा होता है। कंधे के निकट तीन फुट छः इंच ऊँचाई होती है। शरीर का भार ६, ७ मन होता है। दो या तीन वर्ष में यह पूर्ण युवा हो जाता है। सिंह का जोड़ा



सिंह

किसी सुविधाजनक गुफा या घनी झाड़ी में अपना निवास बनाता है। एक बार में तीन से लेकर छः तक शिशु उत्पन्न करता है। शिशु-पालन का कार्य मादा ही करती है। किन्तु कभी-कभी नर भी परि-वार को भोजन प्रदान करता है। यह पारिवारिक दल रूप में शिकार

करता पाया जा सकता है। किन्तु छुट्टे नर सिंहों को बीस तक की संख्या में झुंड बनाए पाया जाता है।

सिंह का आहार जेब्रा, घोड़े तथा ढोर हो सकते हैं। बिल्ली जिस प्रकार चूहे को पकड़ कर कभी मुख से छोड़कर कुछ दूर तक जाने देती और फिर पकड़ने का खेल करती पायी जाती है, उसी प्रकार सिंह को भी अपने शिकार के साथ खेल करते पाया जा सकता है। एक स्थान पर युवा सिंहों ने एक घोड़ा पकड़ कर रात भर इधर से उधर दौड़ाने का खेल किया। अंत में थकान से घोड़ा मर गया परन्तु सिंहों ने उसे यों ही छोड़कर उस स्थान से प्रस्थान किया मानों घोड़े से रात भर खेल करना ही उनका उद्देश्य रहा है।

सिंह के भयानक रूप से छुटकारा पाने के लिए मनुष्य को पूर्वकाल में अधिक चिन्ता रहती आई होगी। अतएव उसका मानव-अस्त्र-शस्त्रों से सदा ही बध होता आया है। परिणाम यह हुआ है कि संसार के सीमित क्षेत्रों में ही इसका प्रसार रह गया है तथा संरक्षण की भी आवश्यकता पड़ी है परन्तु इसकी जाति के लोप होने की कोई आशंका नहीं। इसकी उपयोगिता आज प्रदर्शनों के लिए अधिक रह गई है। जंतुशालाओं तथा सरकसों में यह अवश्य स्थान पाता है।

भारत या अफ्रीका का सिंह शीत प्रदेशों में भी पहुँचाया जाने पर जीवित रह सकता है तथा बंदी रूप में संतानोत्पादन करता है। सरकसों के लिए तो सिंह को कदाचित बड़ी यातना देकर पालतू बनाते हैं किन्तु साधारण रूप में भी इसके पालतू बनाए जाने के उदाहरण पाए जाते हैं। एक व्यक्तिगत जंतुशाला में उत्पन्न सिंह को उसके स्वामी ने ऐसा अभ्यास करा दिया था कि उस पर सवारी कर दिखाता था। सार्वजनिक जन्तुशालाओं में

भी उत्पन्न सिंह पर सवारी करने के उदाहरण विरले नहीं हैं। श्वान के साथ मैत्री का उदाहरण भी सिंह प्रदर्शित कर सका है। सिडनी की जन्तुशाला में एक कुतिया को सिंहशावक पालन पोषण के लिए दिया गया। उसके यथेष्ट वयस्क हो जाने तक भी कुतिया उस पर संरक्षक का अधिकार प्रदर्शित करती रही। कभी-कभी वह इतने बड़े जन्तु को तंग भी करती थी। सिंह और व्याघ्र की वर्णसंकर संतान उत्पन्न होने के भी उदाहरण पाए जाते हैं। यदि सिंह नर हो और बाघ मादा हो तो उनकी वर्णसंकर संतान को लाइगर या सिंहव्याघ्र कह सकते हैं। इसी प्रकार बाघ नर हो और सिंह मादा हो तो उसके शावक को व्याघ्रसिंह (टाइगन) कह सकते हैं। ऐसी दोगली संतान प्रायः माता-पिता दोनों से ही बड़ी होती है, परन्तु अश्व और गर्दभ की वर्णसंकर सन्तान, खच्चर की भूति में भी नपुंसक (सन्तानोत्पादन-शक्तिहीन) होते हैं। इनमें माता-पिताओं के रंगों का विचित्र सम्मिश्रण देखा जाता है। सिंह के रंग समान पीली भूरी पृष्ठभूमि पर धूमिल रंग की धारियाँ दिखाई पड़ती है। बन्दी रूप में सिंह की आयु २५,३० वर्ष तक की पाई जाती है। परन्तु प्राकृतिक जीवन व्यतीत करने पर उसकी आयु क्या होती होगी, इसका ठीक अनुमान कठिन ही है।

बाघ आकार, शरीर के भार तथा आयु में सिंह सा ही होता है। इसका प्रसार भारत से लेकर मलाया, सुमात्रा, चीन, साइबेरिया तथा तुर्किस्तान तक है। साइबेरिया में इसके लम्बे झबराले बाल होते हैं जिससे घोर शीत का भी प्रतिकार कर सकता है।

उष्ण प्रदेशों के बाघ छोटे बालों के होते हैं। उन पर रंगीन पट्टियों की ऐसी विभिन्नता होती है कि किसी भी दो बाघ के रंग समान नहीं हो सकते। सिंह में शिशुकाल में चित्रण रहता है जो

वय प्राप्त होने पर मिट जाता है परन्तु बाघ में रंगीन पट्टियाँ आजीवन अपरिवर्तित रहने वाली होती हैं। बाघिनी (मादा बाघ) में भी यह पहचान होती है कि कपोलों पर के पार्श्ववर्ती रोम-गुच्छ नहीं होते।

बाघों को जल से कोई विशेष प्रेम नहीं होता। सखालीन के अर्द्ध ध्रुवीय द्वीप में रहने वाले बाघ ज्वार के कारण बने जलाशयों में मछली का आखेट करते हैं। भारत में भी कहीं-कहीं जल-विप्लव के स्थानों में बाघ सप्ताहों तक बाढ़ के समय वृक्षों पर पड़े रह जाते हैं और मछली तथा अन्य जल-जन्तुओं पर निर्वाह करते हैं।

व्याघ्र नाम ही भीषणता तथा रक्त-पिपासा का द्योतक बन गया है। केवल हाथी, गैंडे, तथा भारतीय वन्य वृषभ (गौर) ही इसके आक्रमण से वञ्चित जान पड़ते हैं। व्याघ्र द्वारा मृत मनुष्यों की संख्या तो भारत में प्रतिवर्ष सैकड़ों तक पहुँच जाती है। बन्दी अवस्था में सिंह की अपेक्षा बाघ की सन्तान कम ही उत्पन्न होती है। यह स्वभावतया अधिक एकान्तप्रिय होता है। ऐसा निर्जन वातावरण जन्तुशाला के कृत्रिम स्थल में मिलना कठिन होता है। इसमें दहाड़ने की शक्ति नहीं होती, बल्कि कर्कश रूप में भौंकता या ढाँसता है।

चित्रव्याघ्र (तेंदुआ) भारत तथा अफ्रीका में पाया जाता है। तेंदुआ की दोनों देशों की जातियाँ लगभग एक समान ही होती हैं किन्तु उनके रंगों मे स्थानीय विभेद पाए जाते हैं। बाघ की भाँति इसके शरीर का रंग और चित्रण भी आजीवन रहता है। शैशव काल में धब्बे कुछ अधिक निकट-निकट ज्ञात होते हैं, परन्तु अवस्था बढ़ने पर वे दूर-दूर होते जाते हैं। काला तेंदुआ

एशिया के पूर्वी प्रदेशों में पाया जाता है। इसमें काले रंग पर रेशम के पानी-छाप समान झिलमिले रूप में धब्बे होते हैं।

तेंदुआ अत्यन्त ही भीषण जन्तु होता है। यह जिन क्षेत्रों में रहता है, वह सिंह तथा बाघ से भी अधिक भयावह होता है। छोटे जानवरों तथा पक्षियों पर यह निर्वाह करता है, परन्तु बस्तियों में आकर ढोर भी उठा ले जाता है। वृक्षचारी होने के कारण यह घरों पर सहज चढ़ जाता है। मध्य प्रदेश में एक तेंदुए ने दो वर्षों में दो सौ मनुष्यों की हत्या की थी। इतनी अधिक संख्या में मनुष्यों का बध किसी बाघ द्वारा होने का उदाहरण नहीं पाया जा सकता।

जगुआर तेंदुआ का निकटवर्ती जन्तु कहा जा सकता है। यह दक्षिणी मध्य अमेरिका तथा ब्राजील में पाया जाता है। उत्तरी अमेरिका में टेक्सा, न्यू मेक्सिको तथा एरिजोना तक मिलता है। यह रात्रिचारी होता है। मनुष्य पर भी आक्रमण कर सकता है।

हिम चित्रव्याघ्र या बर्फीला तेंदुआ (आउंस) का प्रसार एशिया के ऊँचे पठार तथा तिब्बत से लेकर उत्तर में एटलस पर्वत तक है। घने झबरे बालों के कारण यह अपने यथार्थ आकार से यथेष्ट बड़ा जान पड़ता है। शीत से प्रतिकार करने में घने लम्बे बाल बड़े सहायक होते हैं।

बर्फीले तेंदुए के रंग की पृष्ठभूमि तेंदुए के समान सुनहली होने के स्थान पर उजली सी होती है। छोटे जन्तुओं के अभाव में यह ढोरों के झुन्ड पर हमला करता है किन्तु यह तेंदुआ या जेगुआर की अपेक्षा बहुत कम भयानक होता है।

घरेलू बिल्ली कदाचित अनेक जंगली बिल्लियों के मिश्रण का परिणाम है। वन बिडाल (जंगली बिल्ली) का प्रसार अनेक स्थानों

में पाया जाता है। शृङ्खलित विडाल अफ्रीका के उत्तमाशा अंत-रीप से लेकर मिस्र तक पाया जाता है। यह अर्द्ध पालतू होता है। इसका नाम पड़ने का कारण कलाई तथा गुल्फ (टखने) पर धारियाँ होता है। एक विडाल कृष्णपादीय भी होता है। यह भी अफ्रीका में पाया जाता है।

लिंक्स या कर्णशिखी विडाल तीव्र दृष्टि का जन्तु है। इसकी कई जातियाँ होती हैं। उत्तरी कर्णशिखी विडाल स्कैंडिनेविया तथा एशिया में होता है। स्पेन की जाति स्पेन तथा पुर्तगाल में पाई जाती है। कनाडा में एक पृथक जाति होती है। आखातीय कर्ण-शिखी विडाल (बेलिंक्स) नोवा स्कोशिया से कैलिफोर्निया तक तथा दक्षिण में फ्लोरिडा और मेक्सिको तक पाया जाता है। इन सब में यह विशेषता होती है कि मुख के पार्श्वों में बालों का छोटा गुच्छ होता है तथा कान शंकु के आकार के होते हैं जिस पर बालों का गुच्छ होता है। इस लिए कर्णशिखी नाम है। कैरे-कल या रक्त कर्णशिखी विडाल एशिया तथा अफ्रीका में पाया जाता है। यह सिखाने पर छोटे-छोटे जानवरों, खरगोशों हरिण-मूषक, हरिण आदि को पकड़ लाता है।

भारत के बन विडालों में नतभाल विडाल (पल्लाज कैट), चित्रव्याघ्र विडाल, धूमिल चित्रित विडाल, व्यूहचित्रित विडाल, स्वर्ण विडाल, आखेटक विडाल, तथा मेघांकित चित्रव्याघ्र आदि हैं।

अफ्रीका की प्रसिद्ध जातियाँ चित्रित लम्बपाद सर्वल (मत्स्य-आखेटक विडाल तथा सर्वलाइन विडाल हैं। इन में कृष्ण वर्ण के धब्बे होते हैं किन्तु सर्वल के रंग की पृष्ठभूमि पीलापन युक्त भूरी होती है और सर्वलाइन के रंग की पृष्ठभूमि जैतूनी धूसर से लेकर जैतूनी पीले तक होती है। सर्वल को कृष्णचित्रक और

सर्वलाइन को कृष्णचित्रकीय विडाल कह सकते हैं। कृष्ण-चित्रक सारे अफ्रीका में झाड़ियों युक्त मैदान में जलखंडों के निकट सर्वत्र मिलता है। पक्षी, छोटे कृन्तक तथा अल्पायु हरिण पकड़ता है। सिर तथा धड़ की लम्बाई ३० इन्च तथा कन्धे के निकट ऊँचाई २० इन्च होती है। कृष्णचित्रकीय या सर्वलाइन विडाल का प्रसार पश्चिमी अफ्रीका के जंगलों में सियर्रा लिओन और ऐंगोला से लेकर यूगन्डा तक है। कृष्ण चित्रक (सर्वल) विडाल को रक्त कर्ण शृंगी (कैरेकल) की भाँति गर्दन तथा कूल्हे में रस्सी से बाँधकर छोटे जन्तु का शिकार करने छोड़ दिया जाता है। यह शिकार को शिकारी के आने तक पकड़े रहता है।

उष्ण कटिबन्धीय तथा शीतोष्ण कटिबन्धीय अमेरिका में बहुसंख्यक शुद्ध वन्य विडाल होते हैं। वे प्रचुर रंग तथा विचित्र चित्रणों के कारण पृथक-पृथक नामों से प्रसिद्ध हैं। अपेक्षाकृत बड़ी जातियों की ओसेलोट, मार्गे, जगुआरोंडी आयरा, आर्जेंटाइन वूडकैट, साल्ट डिजर्ट कैट, हैंसेल कैट, पम्पा कैट, और प्यूमा या पार्वत्य सिंह प्रसिद्ध जातियाँ हैं।

प्यूमा अमेरिका का सबसे वृहद्काय बनविडाल है। यह सिंहिनी से अधिक छोटा नहीं होता। उससे इसका रूप इस प्रकार मिलता है कि उसमें केशर (अयाल) का अभाव होता है तथा शरीर का रंग मामूली मटमैला पीला या लाल-पीला होता है।

प्यूमा के शरीर का एक समान रंग उसके निवास-स्थल खुले या पहाड़ी मैदानों से ठीक मेल खाता है। इसका प्रसार उत्तर में पैटेगोनिया से संयुक्त राज्य तथा ब्रिटिश कोलंबिया की सीमा तक है।

सिंह, व्याघ्र तथा चित्रव्याघ्र (तेंदुआ) के पश्चात् सबसे प्रसिद्ध

वन विडाल अफ्रीका और भारत का आखेटक चित्रव्याघ्र या चीता (चित्रक) होता है। चीता मुख्यतः तेंदुआ ही है परन्तु खुले मैदानों



चित्रव्याघ्र (तेंदुआ)

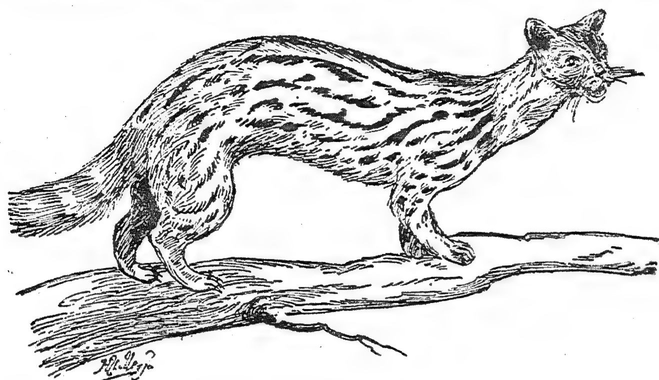
में रहने का अभ्यस्त हो जाने से रंग में कुछ विभेद हो गया है। तेंदुआ (चित्रव्याघ्र) में धब्बों का रूप अँगूठी या माला की तरह होता है। परन्तु चीता में अँगूठी की तरह न होकर छोटे ठोस रूप सा होता है जो निकट-निकट स्थित होते हैं। प्रत्येक धब्बे का स्वतन्त्र अस्तित्व होता है और पृथक-पृथक स्थित होता है। चीते का आकार तेंदुए के बराबर होता है किन्तु चीता अधिक दुबला होता है। ग्रेहाउंड कुत्ते के छरहरे बदन के समान पतला लम्बोतरा शरीर होता है। इस कारण वह खुले मैदान में तीव्रतमगामी हरिण का भी पीछा करता है। यह सभी ज्ञात चौपायों में अधिक तीव्रगामी

होता है। कठोर भूमि पर निरन्तर दौड़ने का परिणाम यह हुआ है कि वे बिल्ली की अपेक्षा श्वान के अधिक निकटवर्ती पैर होते हैं।

फोस्सा एक विडालतुमा विचित्र जन्तु होता है जिसे अर्द्ध विडाल कहा जा सकता है। यह विडाल तथा गन्धविडाल वंश का मध्यवर्ती है। इसे इस नाम के एक स्वतन्त्र वंश का ही जन्तु मानते हैं। यह हल्के खाकी रंग का होता है और मेडागास्कर में पाया जाता है। इसके पैर अपेक्षाकृत छोटे होते हैं। उनके छोटेपन के कारण शरीर तथा दुम की पाँच फुट लम्बाई से बड़ा लम्बोतरा रूप प्रकट होता है। यह गन्धविडालों की तरह अपने पादतलों के बल पर चलता है। इसे एक विचित्र रूप का बना प्यूमा कह सकते हैं। यह रात्रिचारी होता है। मुख्यत: घने वृक्षों में रहता है तथा लेमूर और पक्षियों का शिकार कर खाता है। गन्धविडाल वन्श के जन्तु गन्धविडाल (सिवेट), जेनेट, नकुल, ऋक्ष मार्जार (बियर कैट) आदि हैं। ये जन्तु पूर्वी गोलार्द्ध के उष्ण भूभागों में पाये जाते हैं। विडालों से इनका रूप कुछ भिन्न होता है। गर्दन अपेक्षाकृत लम्बी होती है तथा दन्तावली भी दूसरे रूप की होती है।

गंधविडाल नाम की जाति में सुन्दर रूप के धब्बे या पट्टियाँ होती हैं। यह एशिया और अफ्रीका के उष्ण भूभागों का भूचारी जन्तु है। इनमें अधिकांश में पूँछ के नीचे एक गंधकोष होता है। इस गंधधानी या गंध रखने वाली थैली से बड़ी तीव्र गंध उत्पन्न करने वाला द्रव स्रवित होता है। इस गंध की पाश्चात्य जगत में अब माँग नहीं है, परन्तु पौर्वात्य देशों में उसकी अब भी खपत है जिसे तम्बाकू में गंध उत्पन्न करने या अन्य उपयोगों में लाते हैं। इस गंध के लिए ही इन जन्तुओं को बहुसंख्यक रूप में पालने की परिपाटी है।

जेनेट तथा ताल गंधविडाल (पाम सिवेट) भी गंधविडाल जाति के समान होते हैं किन्तु इनका शरीर कुछ दुर्बल होता है



जेनेट

तथा ये मुख्यतः वृक्षचारी होते हैं। इनका मुख्य आहार पक्षी है। अधिकांश जन्तु तो अफ्रीका में होते हैं। परन्तु योरोपीय जेनेट (पाश्चात्य गंधविडाल) का प्रसार स्पेन, पुर्तगाल, फ्रांस, बेलियारिक द्वीप तथा उत्तरी और उत्तरी-पश्चिमी अफ्रीका में है।

बिंटुरोंग या बियर कैट (ऋक्ष मार्जार) दक्षिणी-पूर्वी एशिया का अद्भुत वृक्षचारी जन्तु है। यह कोयले सा काला होता है। कान शंकुवत होते हैं तथा दुम लम्बी और ग्रहणशील होती है। इसकी सहायता से वह पक्षियों तथा गिलहरियों (कलंदक) को पकड़ने के लिए सहज ही ऊँचे वृक्षों पर चढ़ जाया करता है। यह शक्तिशाली जन्तु है, फिर भी सुगमतया पाला जा सकता है। यह आस्ट्रेलिया तथा दक्षिणी अमेरिका से बाहर के देशों में पाए जाने वाले उन इने-गिने जन्तुओं में ही है जिनकी पूँछ मुड़कर कोई वस्तु पकड़ सकने की शक्तियुक्त (ग्रहणशील) होती है।

नकुल (नेवले) भूजीवी जन्तु होते हैं। इनके पैर के चंगुल स्थिर रूप में बाहर ही निकले रहने वाले होते हैं। बिल्ली के नखों की भाँति त्वचाकोषों में छिपाए नहीं जा सकते। इनकी ख्याति साँप मारने के लिए है। छोटा आकार होने पर भी ये नाग (कोबरा) साँप तक को मार डालते हैं। इसकी सफलता का रहस्य केवल अद्भुत स्फूर्ति ही है। इतनी अधिक उछल-कूद करते हैं कि कि साँप निशाना बैठा ही नहीं पाता। साँप का दाँतों से काटने का निशाना बैठने के पूर्व ही ये उसकी गर्दन दबोच देते हैं। साँप मार कर नेवला अत्यन्त हर्ष का अनुभव करता है। यह मुर्गियों को भी हानि पहुँचाता है, परन्तु साँप तथा अनिष्टकर कृन्तकों (कुतरने वाले जन्तुओं), चूहों आदि के मारने के कारण लोग इसे अपना हितू ही समझते हैं। मलाया, भारत, अफ्रीका में इसका प्रसार है। थोड़े-थोड़े रंगों तथा पट्टियों के विभेद से इसकी लगभग तीस जातियाँ ज्ञात की गई हैं।

अफ्रीका में एक नकुल का सजातीय सा जन्तु होता है जिसे स्यूरिकेट या मीरकट कहते हैं। स्युरिकेट बिलस्थ जन्तु है। यह छोटे आकार का होता है। इसका प्रसार दक्षिणी अफ्रीका में है। यह प्राय: छोटे उपनिवेश रूप में रहता है। इसकी सन्तान एक बार में आठ तक उत्पन्न होती है। अतएव संख्यावृद्धि बहुत होती है।

तरक्षु या लकड़बग्घा वंश पूर्वी गोलार्द्ध का प्रबल जन्तु है। किसी समय यह व्यापक क्षेत्रों में प्रसारित था। इसका आकार भेड़िए के बराबर होता है। गर्दन लम्बी होती है तथा पिछले पैर दुर्बल और छोटे होते हैं। इस वंश की विशेषता विशेष रूप की दन्तावली तथा जबड़े और ग्रीवा-अस्थियों की विशेष रूप की रचना है। ये विशेषत: शवभक्षी होते हैं। जबड़े इतने पुष्ट होते हैं

कि मोटी हड्डियों को चूर्ण कर सकते हैं जिन्हें सिंह भी चूर-चूर करने में असमर्थ हो सकता है। इस प्रबल शक्ति का कारण विशाल जबड़े तथा उसमें लगी विशेष मांस-पेशियाँ होती हैं।

तरक्षु (लकड़बग्घे) उष्ण भूभागों में रहते हैं जहाँ मांस की सड़ान शीघ्र होती है। अतएव शिकार के अन्य हिंसकों द्वारा छोड़े हुए अंश को ये खाकर समाप्त कर देते हैं। इस प्रकार उनकी सड़ान से रोगोत्पादक कीटाणु नहीं उत्पन्न हो पाते। इन जन्तुओं का स्वर एक डरावनी रुदनक्रिया-सा होता है। कभी-कभी वह मनुष्य के विक्षिप्त अट्टहास सा रूप धारण कर लेता है।

पट्टित तरक्षु एशिया और अफ्रीका में पाया जाता है जिसके शरीर पर धूसर या भूरापनयुक्त हल्के खाकी रंग की पृष्ठभूमि पर



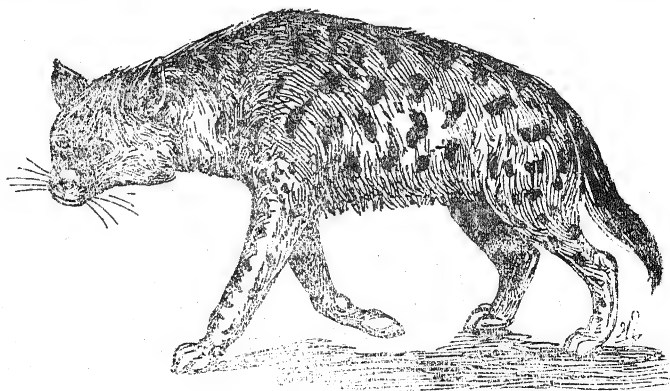
पट्टित तरक्षु

काली आड़ी रेखाएँ या पट्टियां होता हैं। भूरा तरक्षु केवल अफ्रिका में पाया जाता है। उसके शरीर का रग एक समान मंद भूरे रंग

का होता है। अन्य तरक्षुओं की भाँति इसकी गर्दन पर भी काले-मोटे बालों की केशर (अयाल) होती है।

चित्रित तरक्षु अफ्रिका में दक्षिणी छोर की उत्तमाशा अंतरीप से सूडान तथा सेनेगैम्बिया तक पाया जाता है। तीनों जातियों में इसी का आकार सबसे बड़ा होता है। पट्टित तथा भूरे तरक्षु से यह अधिक साहसी भी होता है। यह प्रायः झुंड रूप में शिकार करता है और कूडू तथा एलेंड समान बड़े जंतुओं को मार डालता है। शरीर पर बुंदकियों (धब्बों) के होने से यह पहचाना जाता है। इसका स्वर भी कुछ विभिन्न होता है। वह मनुष्य के विक्षिप्त अट्ट-हास सा सुनाई पड़ता है।

तरक्षुओं की पूँछ झबरी होती है। चंगुल कुंद होते हैं। स्कंध के निकट शरीर ऊँचा रहता है। पीछे की ओर ढालू सी पीठ रहती



चित्रित तरक्षु

है। मुख चौड़े तथा छोटे थूथनयुक्त होता है। प्रत्येक पैर में चार-चार पादांगुलियाँ होती हैं।

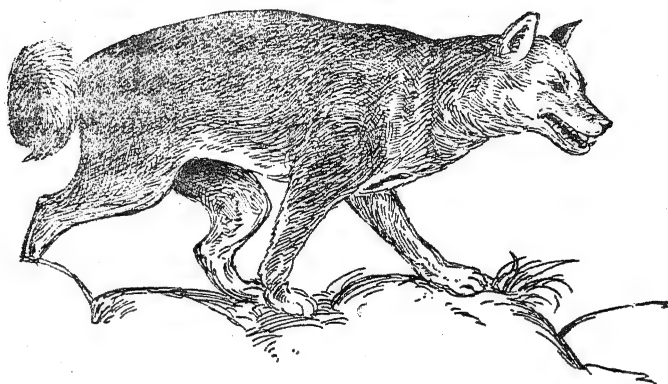
भूवृक या कृश तरक्षु (आर्डवुल्फ) एक पृथक वंश का ही जंतु है। शरीर-रचना की दृष्टि से इसे गंधविडाल तथा तरक्षु वंश के बीच का जंतु कह सकते हैं। यह दीमक और शव-भोजी है। बनावटी तरक्षु का आकार कुछ छोटा और कृशित होता है। जबड़े भी दुर्बल होते हैं और दाँत छोटे तथा सादे होते हैं। शरीर की लंबाई ३२ इंच और पूँछ की १२ इंच होती है। कंधे के निकट २० इंच ऊँचाई होती है। इसके शरीर पर पट्टित तरक्षु समान पट्टियाँ होती हैं। अगले पैरों में पांच तथा पिछले पैरों में चार-चार पादांगुलियाँ होती हैं। दक्षिण आफ्रिका से लेकर अंगोला और सोमालीलैंड तक इसका प्रसार है। यह रात्रिचारी है। दिन को माँद में पड़ा रहता है।

श्वान तो हमारा बहुत परिचित तथा निकटवर्ती जंतु है, परन्तु अन्य बहुत सी जातियों के जन्तु भी शरीर-रचनाओं में कुछ साम्य रखने से एक विभाग के माने जाते हैं जिसे श्वानवंश नाम दिया जाता है। भेड़िया, आस्ट्रेलियन कुत्ता, गीदड़, लोमड़ी आदि इस वंश में गिने जाते हैं। ये सब जंतु अन्य हिंसक स्तनपोषियों की अपेक्षा अधिक ज्ञात हैं।

पालतू कुत्तों की उत्पत्ति अनिश्चित है किन्तु विश्वास किया जाता है कि आज की अगणित जातियों के श्वानों का जन्म किसी भेड़िए समान पूर्वज से हुआ होगा। ये सब विभिन्न भूभागों में विभिन्न वातावरणों तथा विभिन्न लोगों के सम्पर्क में आने से अनेक रूपों में विकसित हुए। फलतः कुत्तों की १०० नस्लें या उपजातियाँ पाई जाती हैं।

डिंगो आस्ट्रेलिया में रहनेवाला श्वान है जहाँ अन्य कोई स्तनपोषी जंतु नहीं मिलता किन्तु यह भी कभी वहाँ प्रवास करने वाले मनुष्यों के साथ पालतू रूप में ही पहुँचा होगा जो आज वन्य रूप

में वहाँ का स्थानीय जन्तु सा ज्ञात होता है। इसका रंग पीलापन



डिंगो

युक्त स्लेटी होता है। यह अर्द्ध पालतू भी बनाया जा सकता है किन्तु इस पर विश्वास नहीं किया जा सकता।

वृक (भेड़िया) के कई रूप नई तथा पुरानी दुनियाँ के उत्तरी गोलार्द्धों में पाए जाते हैं। नस्लों या उपजातियों को एक दूसरी से पृथक करनेवाली कोई स्पष्ट विभाजन रेखा बनाना कठिन हो सकता है। यह बस्तियों के निकट विलुप्त होता जा रहा है। सभी नस्लों के बड़े कुत्तों के साथ भेड़िया वर्णसंकर संतान उत्पन्न कर सकता है। यह जगली तथा अनिष्टकारी होता है किन्तु कभी-कभी पालतू भी बनाया जा सकता है।

योरोपीय भेड़िया का ऊपरी भाग पीलापन भूरापन युक्त धूसर के साथ काला रंग मिश्रित होता है। उदर धूमरमय श्वेत तथा कान काली किनारी युक्त होता है। शरीर की लंबाई ५५ इंच, दुम की १६ इंच तथा शरीर का भार डेढ़ मन होता है। यह पहले सारे

योरप में मिलता था। इसका लोप कृषि क्षेत्रों से हो गया है। इसका सर्वथा लोप इंगलैंड से १५०० ई० में, स्काटलैंड से १७४३ में, आयरलैंड से १७१० में, और डेनमार्क से १७७२ में हुआ। जर्मनी के राइन प्रदेश, पूर्वी प्रशा, फ्रांस के बन, इटली तथा पूर्वी योरप से लेकर चीन, जापान तक मिलता है। जंगलों और स्टेपी प्रदेशों में रहता है। झुंडों में रहकर स्तनपोषियों, पक्षियों को खा जाता है। जाड़ों में गाँवों पर भी आक्रमण कर देता है। एक बार में ५-६ शिशु देता है।

भारतीय भेड़िया योरोपीय जाति की ही उपजाति है। उसमें एक लंबे रोमों युक्त होता है जो पश्चिमी हिमालय में काश्मीर से मध्य एशिया और यन्नान तक मिलता है। दूसरा छोटा भारतीय भेड़िया मैदानी भागों में तथा दक्षिण में धारवाड़ तक मिलता है। इन भेड़ियों का आकार योरोपीय भेड़िया से कुछ छोटा होता है। शरीर की लम्बाई ३६ इंच तथा दुम की लम्बाई १५ इंच होती है।

अमेरिकीय भेड़िया सारे उत्तरी अमेरिका में दक्षिणी मेक्सिको तक पाया जाता है। इसके अनेक रूप मिलते हैं। वे कदाचित एक जाति की उपजातियाँ हैं। सब उपजातियाँ योरप और एशिया में पाई जाने वाली जाति के समान ही होती है। रंग में अनेक रूप हो सकते हैं। पूर्ण काले या श्वेत रंग के भी भेड़िए होते हैं। धूसर से लेकर मटमैले लाल तक रंग तो साधारणतः होता है। ये केवल दीर्घकाय विडालों को छोड़ कर अन्य सभी अमेरिकीय जन्तुओं का शिकार कर सकते हैं। किन्तु जानवरों के बड़े झुंडों पर हमला नहीं करते। आदमी पर भी आक्रमण करते नहीं देखे गए। ये सामने पड़ने पर भाग जाते हैं। बड़े आकार के नर की लम्बाई ५½ फुट तक हो सकती है, जिसमें १६ इञ्च इसकी दुम ही होती

है। २ मन तक शरीर का भार होता है। योरोपीय या अमेरिकीय भेड़िया एक बार में १२ शिशु तक दे सकता है।

कोयोटी छोटे आकार का अमेरिकीय भेड़िया है। इसे पूर्वी गोलार्द्ध के गीदड़ समान समझना चाहिए। यह भेड़िया से छोटा तथा हल्के आकार का जंतु है। यह प्रेरी वुल्फ भी कहा जाता है। इसका रंग मटमैला पीलापन युक्त धूसर होता है। गर्दन तथा पैरों का रंग लाल भूरा होता है। इसका प्रसार पश्चिमी-उत्तरी अमेरिका के मैदानों से लेकर दक्षिण में कोस्टारिका तक है। इसकी पूँछ के सिरे पर काले रंग की पट्टी होती है। यह मैदानों में गीदड़ की भाँति अपनी उपस्थिति एकाकी स्वर या भौंक से प्रकट करता है। किन्तु कई स्थानों पर मनुष्य का सामना होते रहने के कारण यह मौन ही रहता है। यह भेड़ तथा अन्य पालतू जानवर खा जाता है। इसे विश्वासी पालतू जंतु नहीं बनाया जा सकता।

गीदड़ अपेक्षाकृत उष्ण प्रदेशों का जन्तु है। एक ही जाति दक्षिण-पूर्वी योरप, मिस्र, तथा प्रायः सारे एशिया में पाई जाती है। इसके अनेक रंग होते हैं। यह शव-भक्षण कर स्वच्छता का कार्य करता है। यह चुराकर भोजन करने में सिद्धहस्त होता है। इसी के समान मिलती-जुलती सी जाति का गीदड़ अफ्रीका में भी पाया जाता है।

लोमड़ी बड़ा चालाक जंतु है। सभी शीतोष्ण, उष्ण तथा शीत कटिबंधीय प्रदेशों तक में इसकी कई रङ्ग-रूपों की नस्लें पाई जाती हैं। उत्तरी अफ्रीका में एक लोमड़ी दीर्घकर्णीय (फेनेक) होती है। इसके बड़े कान सुनने में अधिक सहायता करते हैं। खुले मैदानों में रहने वाले जन्तु के लिए तीव्र श्रवण-शक्ति विशेष सहायक होती है। इसके छिपने का स्थान उत्तरी अफ्रीका सरीखी भूमि में केवल बालू हटाकर अस्थायी विवर बनाना ही हो सकता है। यह उत्तरी अरब

में भी पायी जाती है। शरीर की लम्बाई २५ इंच होती है जिसमें ८ इञ्च दुम ही होती है। कंधे के निकट शरीर की ऊँचाई ८ इञ्च होती है। यह रात्रिचारी होती है। कृन्तकों से लेकर छोटे पक्षियों तथा टिड्डी तक का आहार करती है। फल-भक्षण भी करती है।

अमेरिका की रुपहली तथा काली लोमड़ी के कोमलरोमों युक्त खाल की खपत अधिक पाई जाती है। यह एक लाभकर व्यापार सा हो गया है। ध्रुवीय लोमड़ी शरीर रचना में अन्य लोमड़ियों से विभिन्न होती है। इसका शरीर अधिक ठिगना होता है तथा सिर गोला होता है। पुरानी तथा नई दुनिया के ध्रुवीय क्षेत्रों में यह बहुसंख्यक मिलती है। शीतकाल में हिम समान श्वेत रङ्ग के बाल लम्बे उगे होते हैं। बसंत तथा ग्रीष्म में धूसर सा रङ्ग होता है तथा शीतकालीन रोम झड़ कर ऐसे रङ्ग के रोम उत्पन्न करते हैं।

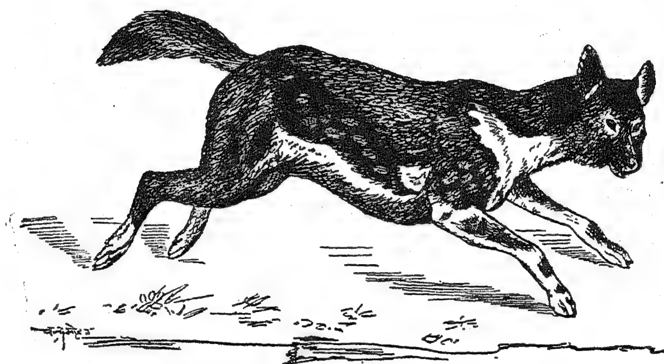
दक्षिण अमेरिका में लोमड़ी समान तीन प्रजातियाँ होती हैं। इनका डीलडौल छोटा होता है और कर्कभक्षक श्वान नाम दिया जाता है। दक्षिण ध्रुवक्षेत्रीय लोमड़ी फाकलैंड में पाई जाती थी। अब उसका लोप हो गया है।

केशरी वृक या अयालदार भेड़िया ब्राज़ील तथा पैरागुए का दुर्लभ श्वानवंशीय जन्तु है। यह पतले लम्बोतरे पैरों तथा गर्दन और कंधे पर लम्बे बालों की केशर (अयाल) के लिए प्रसिद्ध है। उत्तर-पूर्वी एशिया में एक लोमड़ा समान जन्तु का रैकूनवत श्वान (रैकूनलाइक डाग) कहते हैं। इसके पैर छोटे होते हैं। कक्षन्दक-बिडाल (मार्टेन) समान वन्य श्वान सा होता है। इसकी पूँछ छोटी तथा झबरी होती है। सिर तथा पार्श्व भाग मन्द भस्मीय तथा शेष शरीर भूरा सा होता है। सिर तथा शरीर की लंबाई २४ इञ्च और पूँछ की लम्बाई ६ इंच तथा स्कंध के निकट ऊँचाई ८ इञ्च होती है। इसका प्रसार जापान, उत्तरी चीन और आमूर में पाया जाता

है। इसकी खाल से प्रायः रोमयुक्त टोपियाँ बनती हैं जिन्हें 'जापानी लोमड़ी' नाम दिया जाता है।

धोले या बनकुत्ता (रक्तश्वान) दक्षिण भारत में पाया जाता है। यह भूखों मरता होने पर ही शव छू सकता है। यह झुण्ड रूप में रह कर ही शिकार करता है। शिकार के आकार की चिन्ता नहीं करता। यह शिकार के पीछे पड़ जाता है। बाघ तक को थका कर मार डालता है और खा जाता है। प्रौढावस्था में लाल धूसर रङ्ग होता है। शिशु का गहरा धूमीय रङ्ग होता है।

अफ्रिकीय आखेटक श्वान (केप हंटिंग डाग) अफ्रिका का



दक्षिण अफ्रिकीय आखेटक श्वान

विचित्र श्वान है। इसका सिर तरक्षु (लकड़बग्घे) समान होता है तथा प्रत्येक पैर में केवल चार-चार पादांगुलियाँ होती हैं। इसके रंग शरीर का काले, श्वेत तथा पीले रंग के अनियमित धब्बों युक्त चितकबरा होता है। शरीर की लम्बाई ५ फुट होती है जिसमें से पूँछ १६ इंच लम्बी होती है। कंधे के निकट २ फुट ऊँचाई होती है। यह भेड़िये से ऊँचा होता है। शरीर उससे कुछ दुर्बल होता है।

कान बड़े होते हैं। यह कुछ-कुछ चित्रित तरक्षु समान दिखाई पड़ता है। यह बड़ा ही तीव्रगामी होता है। यह भीड़ रूप में रह कर बड़े से बड़े तथा तीव्रतम वेग वाले हरिणों का आखेट करता है। अफ्रीका के दक्षिणी छोर उत्तमाशा अन्तरीप से लेकर सूडान तक पाया जाता है, परन्तु घनी झाड़ियों तथा लम्बी घासों के मध्य रहने के कारण यह दिखाई कम ही पड़ता है। मनुष्य से दूर भागता है। एकबार में दस बच्चे तक उत्पन्न करता है। इसके निकटवर्ती श्वान धोले श्वान, मलाया वन्य श्वान, साइबेरिया वन्य श्वान, तथा कुञ्जीय श्वान (बुशडाग) हैं।

कुञ्जीय श्वान विचित्र रूप का ठिगना तथा मैले रंग का जन्तु है। इसका प्रसार दक्षिण अमेरिका में ब्राजील और गाइना से पनामा तक है। इसका शरीर लम्बोतरा होता है तथा पैर बड़े ठिगने होते हैं। दुम छोटी होती है। शरीर का रंग भूरा होता है। शरीर की लम्बाई २५ इंच, पूँछ की लम्बाई साढ़े पाँच इंच होती है। यह बनवासी जन्तु है और झुण्ड रूप में शिकार करता है। शरीर पर लम्बे बाल होते हैं। यह रात्रिचारी होता है।

मलाया वन्य श्वान भारतीय रक्तश्वान (धोले) से दुर्बल तथा छोटा होता है। पीलापन से लेकर लाल भूरे तक रंग होता है। पूँछ का अन्तिम सिरा काला होता है। यह दक्षिणी बर्मा, मलक्का, सुमात्रा और जावा में पाया जाता है। भारतीय तथा मलाया वन्य श्वान साइबेरिया के वन्य श्वान की उपजातियाँ हैं। साइबेरिया वन्य श्वान का ऊपरी तल लाल भूरा और निम्नतल पीला होता है। शरीर की लम्बाई ३ फुट और पूँछ की १४ इंच होती है। यह मध्य एशिया में पाया जाता है।

ऊदबिडाल वंश में अनेक जन्तु होते हैं जिनमें स्टोट, विजेल, (काष्ठ नकुल), जलबिडाल या ऊदबिलाव, ग्लटन, मिंक, एरमाइन,

सेवुल तथा मार्टेन (कलंदक विडाल) आदि होते हैं। हिंसक पशुओं में इस वंश के जन्तु भारी संख्या के हैं। इस वंश की मुख्य विशेषता यह है कि सिर प्रायः नोकीला होता है तथा अपेक्षाकृत बड़े लम्बे शरीर में छोटे पैर होते हैं। वह रूप कदाचित विवरवासी होने के कारण ही होता है। अपने आहार के लिए ये बिलों के अन्दर प्रविष्ट होकर कुन्तक जन्तुओं को पकड़ते हैं। इस कारण भी शरीर लम्बोतरा होता होगा। ये बड़े शिकारी होते हैं। किसी भी तरह के जन्तु या पक्षी और उसके अंडे खा सकते हैं। ये मछली भी खा लेते हैं।

ऊदविडाल या (जलविडाल) से मछुवाहे घृणा करते हैं क्योंकि यह अपने खाने से बहुत अधिक मछलियों को मारकर नष्ट कर देता है। इससे यह अपनी हिंसावृत्ति ही शान्त करता है। जल या स्थल किसी भी स्थान पर इसकी स्फूर्ति तथा चपलता बहुत अधिक होती है। इसका विवर दो द्वारों वाला होता है जिनमें एक द्वार अवश्य ही पानी के अन्दर होता है। प्रख्यात जलविडाल या पूर्वी गोलार्द्ध का ऊदबिलाव लम्बोतरे बदन तथा छोटे पैर का होता है। जल-जीवी वृत्ति का अभ्यस्त है। सिर बड़ा चपटा होता है जिसमें थूथन गोल होता है। कान बन्द किए जा सकते हैं। पैरों की अँगुलियाँ अँगुलिजाल युक्त होती है। दुम की लम्बाई शरीर के अर्द्ध भाग से अधिक होती है। शरीर पर के बाल छोटे और मोटे होते हैं। उनका रंग ऊपरी तल पर गहरा चमकीला भूरा और शरीर के निम्नतल पर उजलेपन युक्त भूरा होता है। सिर तथा शरीर की लम्बाई २३-३१ इंच और पूँछ की लम्बाई १६-१९½ इंच तक होती है शरीर का भार ७-१५ सेर तक होता है। यह योरप, उत्तरी अफ्रीका, उत्तरी एशिया तथा भारत के कुछ भाग में पाया जाता है।

प्रख्यात जलविडाल का निवास नालों तथा झीलों के किनारों पर रहता है। समुद्रतटीय भूमि में भी पाया जा सकता है। यह जल में तो बड़े आनन्द से बिहार करता है, परन्तु स्थल पर भद्दे रूप में चल सकता है। यह रात्रिचारी होता है। इसका विवर या तो अपहृत होता है या स्वयं निर्मित होता है। इसका मुख्य आहार मछली है किन्तु मेढक तथा केंचुआ भी खा जाता है। इसके रोम अच्छे दामों पर बिकते हैं।

क्षुद्रनखीय जलविडाल भारतीय जाति का ऊदबिलाव है। इसका आकार प्रख्यात जलविडाल से छोटा होता है। इसके चंगुल (नख) छोटे होते हैं। इसे प्रायः नखहीन जलविडाल कहा जाता है। इसका प्रसार दक्षिणी पूर्वी एशिया में पूर्वी द्वीप समूह से लेकर हिमालय तथा चीन तक है। सिंहल में नहीं पाया जाता। दक्षिणी भारत में मिलता है। मध्यवर्ती भारत में नहीं पाया जाता किन्तु हिमालय में नेपाल से पूर्व की ओर पाया जाता है। ऊद का अर्थ जल है। इसलिए ऊदविडाल का अर्थ पानी का विडाल हुआ। किन्तु साधारण लोग इसे ऊदबिलाव पुकारते हैं।

उत्तरी अमेरिका में ऊदविडाल की एक दूसरी जाति होती है जो प्रख्यात ऊदविडाल समान ही होती है। उसका रोम मूल्यवान होता है। न्यूफाउंडलैंड, लेब्रोडर तथा हडसन खाड़ी क्षेत्र से उत्तम रोम प्राप्त होता है। यह उत्तरी अमेरिका में विस्तृत क्षेत्र में पाया जाता है।

दक्षिणी अमेरिका में भीमकाय ऊदविडाल होता है। इसकी लम्बाई साढ़े छः फुट होती है जिसमें साढ़े सत्ताइस इंच लम्बी इसकी चपटी पूँछ होती है।

समुद्री ऊदविडाल साधारण ऊदविडाल से एक फुट अधिक लम्बा होता है। शरीर की लम्बाई ४ फुट होती है जिसमें एक फुट

इसकी मोटी और छोटी पूँछ होती है। केवल यही पूर्ण समुद्र-जीवी होता है। तट से बहुत दूर जलखंड में कभी नहीं जाता। इसके शरीर का रंग भूरा काला होता है, बीच में श्वेतशीर्षीय बाल होते हैं। सिर का ऊपरी भाग तथा गर्दन का पिछला भाग अधिक धूसर होता है। चवेणक दाँत कुन्द अर्वुद युक्त होते है जिससे घोंघे आदि कवचीय जन्तु खा सके। इसकी सुन्दर खाल तीन हजार रुपए तक बिकी है। इसका प्रसार पहले उत्तरी पैसिफिक तट में सर्वत्र था। अब जहाँ-तहाँ अलास्का से कैलिफोर्निया तट तक मिलता है, क्यूराइल द्वीप के चारों ओर जापान का नियन्त्रित आखेट क्षेत्र हैं।

फेरेट बिज्जू साधारण बिज्जू से मिलता-जुलता जन्तु है। किन्तु विशेष अन्तर यह होता है कि इसका शरीर अधिक लम्बोतरा होता है, वृक्षचारी वृत्ति अधिक होती है तथा इसका रङ्ग श्वेत, भूरे, काले तथा पीले रङ्ग की स्फुट पट्टियों तथा रेखाओं के विभिन्न मिश्रण युक्त होता है। दक्षिणी चीन और भारत में पाया जाता है।

प्रख्यात (साधारण) बिज्जू योरप, एशिया तथा अमेरिका के शीतोष्ण भूभागों में पाए जाते हैं। शरीर भारी, पैर ठिगने तथा दुम छोटी होती है। इसका रङ्ग अन्य सभी स्तनपोषियों से विचित्र होता है। इसमें अधोतल तो गहरे रङ्ग का होता है और ऊपरी तल हल्के रङ्ग का होता है। इसकी मीमांसा नहीं की जा सकी है कि ऐसी उल्टी व्यवस्था किस कारण होती है। इसका ऊपरी तल धूसर तथा निम्नतल तथा पैर काले होते हैं। सिर तथा गर्दन पर काली तथा श्वेत पट्टियाँ होती हैं। शरीर की लम्बाई ढाई फुट से कुछ अधिक होती है। पूँछ ७ इंच लम्बी होती है। स्पेन में एक हल्के रङ्ग का तथा क्रीट में छोटी जाति का बिज्जू होता है। यह रात्रिचारी होता है। खेतों के निकट खुले भूभाग में रहता है।

अपना विवर स्वयं खोदता है। भूमि खोदने की शक्ति इसमें अद्भुत होती है। एक स्थान पर ठोस खरिया मिट्टी की तह बिज्जू ने १६ फुट गहराई तक खोद दी जिससे ऊपर की प्रमुख सड़क भस गई। इसका विवरस्थ निवास गोलाकार कक्ष होता है जिसमें घास बिछी होती है। वहाँ तक कई ओर से टेढ़े-मेढ़े रास्तों से बिलें आ मिली होती हैं।

बिज्जू उभयभक्षी होता है तथा इसे निरीह जन्तु कहा जा सकता है, परन्तु बहुत तंग किए जाने पर कुत्तों को पछाड़ सकता है। इसके बाल, बाल बनाने में उपयुक्त ब्रशों में लगते हैं।

स्टोट ऊदबिडाल सरीखा जन्तु है। यह विकट आखेटक होता



स्टोट

है। वृक्ष पर भलीभाँति चढ़ जाता है। शीत के आधिक्य से भय नहीं खाता। युवा स्टोट की लम्बाई एक फुट होती है। इसकी पूँछ चार इञ्च लम्बी होती है। मादा नर से कुछ छोटी होती है। ग्रीष्म में रोमीय परिधान ऊपरी ओर भूरा लाल तथा निचली ओर पीला श्वेत होता है। पूँछ की लम्बाई सिर से अधिक होती है। उसका रंग भूरा लाल किंतु छोर पर काला होता है। वाता-

वरण के अनुकूल रोमीय परिधान के रंग में अन्तर भी होता है। शीतकाल में इसका रंग श्वेत हो जाता है, केवल पूँछ की छोर रह जाती है। किन्तु कुछ स्थानों में शीतकाल में भी इसका रंग थोड़ा ही श्वेत होता है। यह परिवर्तन वायुमण्डल के तापमान पर निर्भर करता है। इसका प्रसार पिरेनीज और आल्प्स पर्वतों से लेकर ध्रुवीय सागर और इंगलैंड से एशिया तक पाया जाता है। यह जङ्गलों के चारों ओर तथा खेतों में रहता है। रात्रिचारी होता है। इसका आहार छोटे स्तनपोषी, पक्षी, सरीसृप तथा अंडे हैं। यह बड़ा रक्तपिपासु होता है। ४-८ तक शिशु एक बार में उत्पन्न करता है। दस शिशु तक उत्पन्न होने के भी उदाहरण हैं। आयरलैंड में एक छोटी जाति का जन्तु रहता है।

वीजेल (काष्ठनकुल) स्टोट के आधे से कुछ ही बड़ा होता है। यह लम्बोतरे शरीर का होता है। ऊपर भूरा लाल तथा नीचे श्वेत रंग होता है। दुम की लम्बाई सिर के बराबर होती है। सिर तथा धड़ की लम्बाई ८½ इञ्च और पूँछ की लम्बाई पौने तीन इञ्च होती है। मादा नर से बहुत छोटी होती है। शीतकाल में श्वेत रंग हो जाता है, परन्तु स्टोट इतना श्वेत नहीं होता। स्कैंडिनेविया, फिनलैंड, तथा आल्प्स में शीतकाल में इसका रंग श्वेत हो जाता है। इसका प्रसार इंगलैंड से लेकर पश्चिमी एशिया तक है। यह रक्तपिपासु होता है। शशक पर भी आक्रमण कर सकता है। अमेरिका में स्टोट को ही वीजेल कहते हैं किन्तु यथार्थ वीजेल की भी अनेक जातियाँ होती हैं।

मिंक ध्रुवीय मार्जार तथा वीजेल (काष्ठनकुल) से सम्बन्धित जन्तु है। पूर्वी गोलार्द्ध का मिंक एक समान भूरे रंग का होता है केवल जीभ श्वेत होती है। कंठ पर प्रायः हल्का धब्बा होता है। सिर तथा धड़ की लम्बाई १६ इञ्च और पूँछ की ५½ इञ्च होती

है। इसका प्रसार उत्तरी एशिया से पश्चिम की ओर उत्तरी तथा मध्य योरप होकर दक्षिणी-पश्चिमी फ्रांस तक है। इंगलैंड, पश्चिमी फ्रांस, स्विटजरलैंड, डेनमार्क, स्कैंडिनेविया में नहीं मिलता। जर्मनी से भी कदाचित लुप्त कर दिया गया है। यह जल के निकट रहने का प्रेमी है। जलीय वनस्पतियों, नरकुलों आदि में पाया जाता है। यह तैराकी या डुबकी लगाने में कुशल होता है। इसका मुख्य आहार घोंघा आदि कवचीय कोमलांगी जन्तु हैं। मेढक, मछली या अन्य जल-जन्तु भी खा सकता है। इसे भव्य रोमों के लिए पाला जाता है। नस्ल भी सुधारी गई है। किन्तु रोम के व्यवसाय के लिए एशियाई नस्लें—जापानी मिंक, चीनी मिंक और अमेरिकीय मिंक का स्थान ऊँचा है।

अमेरिकीय मिंक पूर्वी गोलार्द्ध के मिंक की अपेक्षा बड़ा होता है। उसके रोम अधिक ऊनी तथा नर्म होते हैं। इसका ऊपरी भाग भूरा चिकना होता है। पीठ तथा पूँछ के पास कुछ गहरा रंग होता है। अधोतल ऊपरी तल समान होता है, परन्तु हनु के निकट श्वेत क्षेत्र होता है। इधर-उधर भी श्वेत धब्बे फैले हो सकते हैं। इसका आहार मछली, जल चूहा, मेढक, घोंघा आदि हैं। इसका रोम सर्वोत्तम होता है। प्रतिवर्ष छः से आठ लाख खालें तक बिकती हैं। लेब्राडर तथा हडसन की खाड़ी की खाल सर्वोत्तम होती है। उत्तरी अमेरिका में बहुत दिनों से पाला जाता रहा है, परन्तु योरप में भी अब पाला जाने लगा है।

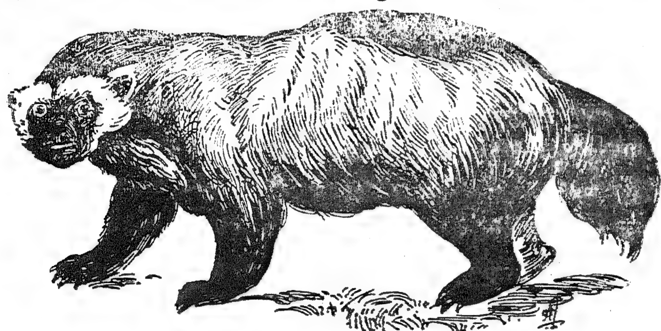
ध्रुवीय मार्जार और फेरेट सारे योरप तथा उत्तरी अमेरिका में प्रसारित हैं। इनकी कई जातियाँ पाली जाती हैं। उनसे शशक तथा चूहों का शिकार कराया जाता है। फेरेट को ध्रुवीय मार्जार की वर्णसङ्कर सन्तान कहा जाता है। पूँछ के मूल भाग में गन्ध ग्रन्थि होती है जिससे प्रबल गंध उत्पन्न होती है।

मार्टेन (कलन्दक विडाल) की भारतीय जाति एक बहुत बड़ी जाति है। सिर तथा धड़ की लम्बाई २५ इञ्च, पूँछ की लम्बाई १८ इञ्च होती है। ऊपरी भाग काला या गहरा भूरा होता है। गले तथा छाती का रंग चमकदार पीला होता है। इसका प्रसार भारत, बर्मा तथा चीन, मलक्का, सुमात्रा, जावा, बोर्नियों आदि तक है। पाइन मार्टेन योरप में पाया जाता है। इसका प्रसार-क्षेत्र दक्षिण में उत्तरी इटली, सारडीनिया तथा बेलियारिक द्वीप तक तथा आयरलैण्ड से पूर्व की ओर एशिया में मञ्चूरिया, अल्टाई तथा हिमालय तक है। यह चीड़, देवदार आदि कोणीय और पतझड़ वाले वृक्षों के मध्य रहता है। यह वृक्ष पर भलीभाँति चढ़ जाता है। रात्रिचारी होता है। गिलहरी तथा खरगोश तक को खा जाता है। झरबेरियाँ भी खाता है। इसका रोम बिकता है। इसका रङ्ग गहरा भूरा होता है। गले पर पीलापन सा धब्बा होता है। सिर तथा धड़ की लम्बाई १९ इञ्च और पूँछ की लम्बाई ९½ इञ्च होती है।

अमेरिकीय मार्टेन (कलन्दक विडाल) पाइन मार्टेन समान ही होता है। इसका रङ्ग हल्के पीले भूरे से लेकर गहरे कलौंछ भूरे तक होता है। कंठ का धब्बा श्वेत से लेकर नारंगी तक होता है। कभी वह नहीं भी होता। बालों पर कभी-कभी छोरों पर रुपहला रंग होता है। उत्तरी अमेरिका के जङ्गलों में पाया जाता है। एक से पाँच शिशु तक एक बार अप्रैल के अन्त में उत्पन्न करता है। एक प्रशान्तीय मार्टेन (पैसिफिक) उत्तरी अमेरिका के पश्चिमी भाग में ब्रिटिश कोलम्बिया से न्यू मेक्सिको तक पाया जाता है।

वोलवेराइन या ग्लटन शक्तिशाली ऊदविडाल वंशी जन्तु होता है। पूँछ छोटी और झबरी होती है। शरीर पर बाल लम्बे होते हैं। रंग गहरा भूरा होता है। प्रत्येक पार्श्व में चौड़ी पीली भूरी

पट्टी होती है। सिर तथा धड़ की लम्बाई ३०-३२½ इञ्च और पूँछ की लम्बाई ७-८½ इञ्च होती है। यह वीजेल तथा मार्टेन से सम्बन्धित जन्तु है। परन्तु इसका रूप रीछ के बच्चे सा ज्ञात होता है जिसके विशाल पंजे हों और एक गुच्छीय, प्रायः चमरी पूँछ हो। यह एशिया तथा अमेरिका के ध्रुवीय वृत्त में पाया जाता है।



ग्लटन

वहाँ इसका स्थानीय नाम कर्क जौ है। यह बड़ा हिंसक तथा अनिष्ट-कर जन्तु है परन्तु बहुमूल्य रोमों से उसकी पूर्ति हो जाती है। शीत-काल में यह रोमयुक्त खालों के भंडार में घुसकर सूखी खालों तक खा जाता है। जूतों के चमड़े भी चबा डालता है, आकार में छोटा होने पर भी यह रेनडियर तक को मार सकता है। यह अखाद्य या अनावश्यक वस्तुओं की संग्रह-वृत्ति रखता है। बूट, तमञ्चे, छुरे, टोप, सिक्के, कारतूस आदि उठा ले जाकर अपने भंडार में भर लेता है। जन्तुशालाओं में यह अपने शयनकक्ष में रद्दी कागज, फेंके हुए टिकट, वरक आदि संग्रह करता रहता है।

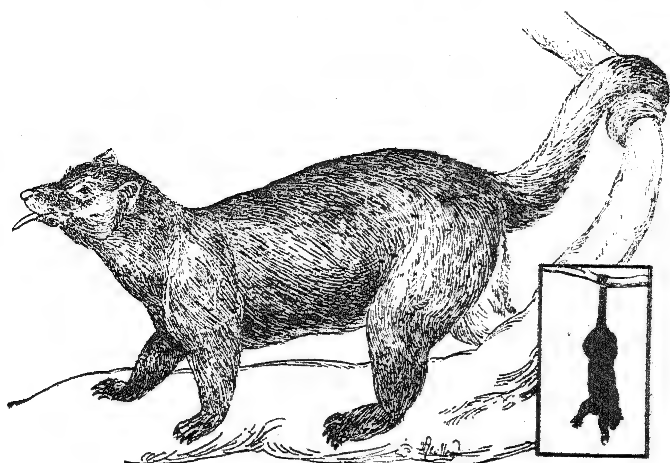
दक्षिणी तथा मध्य अमेरिका में वुलवराइन से मिलता-जुलता है। एक जन्तु टैरा नाम का होता है किन्तु वह वृक्षचारी होता है।

उसके रोम छोटे और घने होते हैं। उसका स्वर वुलवराइन की तरह कर्कश और डरावनी भौंक सा होता है।

अफरीका के पट्टित काष्ठनकुल (स्ट्राइप्ड वीजेल) याम्बिशोंड को जोरिल्ला भी स्थानीय नाम मिला है। इसका रंग श्वेत पट्टियों युक्त काला होता है। अपनी रक्षा के लिए एक तीव्र गन्ध का द्रव बाहर निकालता है। इसको पहाड़ी स्थानों में रहना प्रिय है जहाँ छेदों तथा पथरीले दरारों में छिप सके। इसका आहार छोटे स्तनपोषी, पक्षी, अंडे आदि हैं। सर्वोत्तम जाति चतुष्पट्टित होती है। काले रंग के शरीर पर पीठ के पीछे तक जाती हुई चार श्वेत पट्टियाँ होती हैं। प्रत्येक कपोल और नासिका-मञ्च पर भी एक श्वेत धब्बा होता है। पूँछ प्रायः श्वेत होती है। सिर तथा धड़ १४ इञ्च, पूँछ १० इञ्च लम्बी होती है।

किंकजाऊ दक्षिणी तथा मध्य अमेरिका का जन्तु है। यह बिल्ली के आकार का होता है। इसका रंग पीलापन युक्त स्लेटी होता है। पूँछ की लम्बाई शरीर की लम्बाई से अधिक होती है। वह अपनी पूँछ लपेट कर डालों को पकड़ सकता है। रात्रिचारी जीवन में उसकी यह ग्रहणशील दुम बड़ी उपयोगी होती है। यह पक्षियों के छत्ते तथा मधुमक्खियों के छत्ते पर आक्रमण करता है जो ऊँची शाखाओं पर बने होते हैं। यह किसी शाखा को ग्रहणशील पूँछ के लपेट से पकड़ घोंसले की ओर लटक ही नहीं सकता है, बल्कि पूँछ के बल ही फिर चढ़ कर शाखा पर शीघ्र वापस पहुँच सकता है। इसकी जीभ लम्बी तथा केचुएनुमा होती है, जो मधु चाट लेने या कीटों की इल्लियाँ पकड़ वृक्ष के दरारों से पकड़ लेने में उपयुक्त होती है।

किंकजाऊ के बाल घने और नर्म होते हैं। इसका आहार फल, अन्य वानस्पतिक पदार्थ तथा छोटे स्तनपोषी जन्तु, पक्षी, अंडे



किंकजाऊ

और कीट हैं। यह दक्षिणी तथा मध्य अमेरिका और उत्तर में मेक्सिको तक के जङ्गलों में पाया जाता है।

रैकून नामक जन्तु बिज्जूनुमा होता है। विशेष रूप की दन्तावली के कारण इसे कुछ अन्य जन्तुओं के साथ एक विशेष वंश में माना गया है। ये सभी जन्तु अपने पादतलों को भूमि पर स्पर्श कर चलते हैं। अधिकांशतः वृक्षचारी होते हैं तथा उभयभक्षी स्वभाव होता है। उत्तरी अमेरिका में ५०° उत्तरी अक्षांश के दक्षिण रैकून का प्रसार पाया जाता है। यह पुष्ट शरीर का जन्तु होता है। शरीर की पूरी लम्बाई ३० इञ्च होती है जिसमें पूँछ की लम्बाई १० इञ्च होती हैं। पूँछ झबरी होती है, तथा गहरे रंग की रेखा-मुद्रिकाएँ होती हैं। शरीर के बाल का रंग घूसर, भूरा और काला मिश्रित होता है। आँख के चारों ओर काला आवरण होता है।

यह जलप्रिय तथा रात्रिचारी होता है किन्तु यथेष्ट वृक्षचारी होता है तथा वृक्षों के कोटर में या चट्टानों की दरारों में रहता है। वनस्पति तथा मांस दोनों ही भक्षण करता है। जब-जब सम्भव होता है, यह अपने आहार को जल से धोकर खाता है। ३-६तक शिशु एक बार में देता है। अपने प्रसार-क्षेत्र के उत्तरी भाग में शीतकालीन दीर्घ निद्रा में लिप्त होता है।

कर्कभक्षक रैकून दक्षिणी अमेरिका का जन्तु है! उत्तरी अमेरिका के रैकून की अपेक्षा इसके पैर अधिक लम्बे होते हैं। कहा जाता है कि यह केकड़े खाता है। यह अधिकतर पूर्वी तट पर पाया जाता है। रैकून के रोमयुक्त खाल को 'कून' कहते हैं। दक्षिणी अमेरिका के रैकून की रोमयुक्त खाल प्रतिवर्ष ६ लाख से ८ लाख तक प्रयुक्त होता है। रैकूनों की पहचान मुख पर बिज्जू समान पट्टियाँ होती हैं। इनकी चालाकी, साहस और युक्ति की प्रसिद्धि है। एक रैकून कठघरे से एक बार छूट गया। वह सात मील दूर की एक यन्त्रशाला में जा पहुँचा। चारों ओर पहियों को नचाने वाले बेल्टों (फीतों) पर घन्टों घूमता रहा। वहाँ मरम्मत हो रही थी। बड़ी कठिनाई से पकड़ा जा सका।

कोटिस दक्षिण अमेरिका का रैकून समान जन्तु है किन्तु उसकी पूँछ बड़ी लम्बी होती है। थूथन भी बड़ा लम्बोतरा होता है। इसका प्रसार दक्षिणी तथा मध्य अमेरिका में पाया जाता है। दिवाचारी होता है तथा जंगलों में छोटे झुण्डों में घूमता-फिरता है। यह रीछों की भाँति मधुमक्खियों के मधु को चुरा ले जाने में बड़ा कुशल होता है। यह वृक्षारोहण में भी बड़ा दक्ष होता है तथा वृक्षों पर ही अधिक समय व्यतीत करता है। शरीर की पूर्ण लम्बाई ४० इंच होती है। एक कोटिस मुद्रिकांकित पुच्छीय होता है जिसके शरीर का रङ्ग लाल भूरा होता है। यह दक्षिण

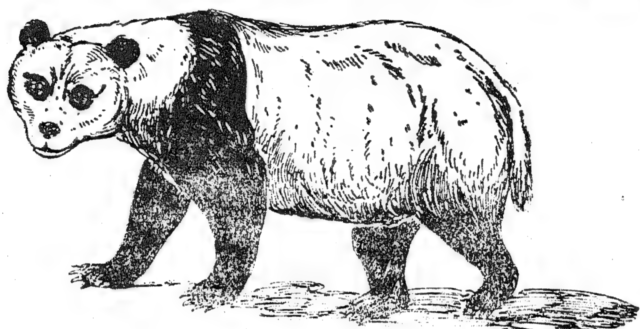
अमेरिका में मिलता है। श्वेतनासिका कोटिस के नेत्रों के चारों ओर तथा थूथन पर श्वेत धब्बा होता है। यह मेक्सिको, मध्य अमेरिका तथा दक्षिण अमेरिका में पेरू तक पाया जाता है।

एशिया में अमेरिकीय रैकून का स्थान पंडा नाम के जन्तु को दिया जा सकता है। इसकी दो जातियाँ होती हैं। इनको विचित्र रूप के कारण एक पृथक वंश में ही गिना जाता है। क्षुद्र पंडा या विडाल-ऋक्ष और रैकून का आकार एक-सा होता है किन्तु क्षुद्र पंडा का सिर अपेक्षाकृत चौड़ा होता है। इसमें एक ओर तो ऋक्ष से कुछ दूर की समानता मानी जा सकती हैं। दूसरी ओर रैकून-वंशी जन्तुओं से भी कुछ मिलता-जुलता है। इन दोनों के मध्य का जन्तु ही इसे कहना चाहिये। यह ऊपर से देखने पर भारी-भरकम बिल्ली-सा जान पड़ता है जिसमें कलंदकविडाल (मार्टेन) की भी कुछ झलक मिलती है। सिर तथा धड़ की लम्बाई २०-२४ इञ्च और दुम की लम्बाई १५-१८ इञ्च होती है। बाल घने, नर्म, और लंबे होते हैं। इसके ऊपरी तल का रङ्ग गहरा चिकना लाल तथा निम्नतल और पैरों का रंग काला होता है। लंबी झबरी पूँछ लाल भूरी होती है जिसमें स्पष्ट रूप की मुद्रिकाएँ बनी होती हैं।

क्षुद्र पंडा पहाड़ी बनों में ७००० फुट से १२००० फुट तक नेपाल से लेकर पूर्वी हिमालय में और आसाम से लेकर सेचवान और यन्नान तक चीन में पाया जाता है। यह वृक्षों पर भली-भाँति चढ़ जाता है। वृक्षों के कोटर में रहता है। शाकाहारी वृत्ति होती है किन्तु अंडे और कीड़े भी खाता है। वसंत में एकबार में दो शिशु उत्पन्न होते हैं। भारत में जो क्षुद्र पंडा पाया जाता है उसी की उपजाति चीन, बर्मा आदि में से मिलती है।

दीर्घ पंडा संसार का रहस्यमय जन्तु है। यह विचित्र रीछ के आकार का होता है किन्तु किसी भी अन्य जन्तु से समानता नहीं

रखता। यह भूरे रीछ से कुछ छोटा होता है। लम्बाई छः फुट होती है। ऊपर से भालू-सा रूप होता है, परन्तु छोटी दुम विशेष विकसित होती है। पिछले पैर तरक्षु (लकड़बग्घे) की भाँति अगले पैरों की अपेक्षा छोटे होते हैं। अगले पंजे में एक विशेष अस्थि अँगूठे के साथ विकसित होती है। उसमें एक बड़ी गद्दी



दीर्घपंडा

अवलंबित रहती है जो एक विचित्र रूप का ग्रहणशील अङ्ग बन जाता है। उससे यह बाँस की कलियाँ पकड़ सकता है। यही उसका आहार होता है। शरीर के विशेष रूप में विभाजित पृथक खंडों में श्वेत तथा काले रङ्ग होते हैं। आँखों के चारों ओर काली पट्टी होती है तथा कान भी काले होते हैं। अगले तथा पिछले पैरों का रंग काला होता है। अगले पैरों का काला रङ्ग बढ़कर स्कंध के ऊपर तक में जाकर कंधे के पीछे एक अविच्छिन्न पट्टी बनाता है। शेष भाग श्वेत होता है। इसका प्रसार पूर्वी तिब्बत तथा दक्षिणी-पश्चिमी चीन के निर्जन जंगलों तथा पर्वतों में पाया जाता है। किसी युग में पंडा का प्रसार आज के क्षेत्रों से बहुत अधिक भूभागों में रहा होगा। तिब्बत से सुदूर इंगलैंड तक में इसके प्रस्तरावशेष मिले हैं।

नररूप पशु

नररूप पशुओं में उनकी गिनती होती हैं जिनके शरीर की रचना में मनुष्य से कुछ समानता पाई जाती है। इन्हें दो स्वतन्त्र या उपगणों में विभाजित किया गया है—(१) नर-वानरगण, (२) लेमूरगण, नर-वानरगण में गोरिल्ला तथा चिम्पैंजी अफ्रिका में पाए जाते हैं, ओरंगउटन सुमात्रा, बोर्नियों में पाया जाता है। वानरों में इनका सबसे बड़ा आकार होता है। इनके पूँछ भी नहीं होती। अतएव इन्हें विपुच्छ कपि भी कहा जाता है। गले में खाद्य द्रव्य संचित करने वाली थैली तथा नितंब पर बालहीन नग्न स्थल का भी अभाव होता है। इनको विपुच्छ कपि वंश या नररूप वंश कह सकते हैं। इन्हें बनमानुस भी कहा जा सकता है।

गोरिल्ला, चिम्पैंजी, ओरंगउटन, तथा गिब्बन अन्य सब जन्तुओं की अपेक्षा अधिक मानव रूप होते हैं। मानसिक विकास में वे अन्य सभी पशुओं से अधिक विकसित होते हैं। फिर भी सबसे अधिक बुद्धिशील विपुच्छ कपि में भी निम्नतम रूप के मनुष्य के मस्तिष्क के आधे से न्यून मस्तिष्क ही होता है। किसी बेडौल मनुष्य के रूप से हम गोरिल्ला, चिम्पैंजी या ओरंगउटन की सहज ही तुलना कर सकते हैं किन्तु गिब्बन का रूप मनुष्य का इतना निकटवर्ती नहीं पाया जा सकता।

वानर शब्द का अर्थ (वा=समान+नर=मनुष्य) मनुष्य के समान है। परन्तु इस शब्द का आजकल संकुचित अर्थ केवल

पुच्छधारी बन्दरों के लिए ही होता है। अतएव नररूप, विपुच्छ कपि आदि शब्द गढ़ना पड़ा।

नररूप वंश (विपुच्छ कपि वंश) में या बनमानुषों में मनुष्य के शरीर से कई बातों में विशेष समानता पाई जाती है। गोरिल्ला, चिम्पैंजी, ओरंगउटन तथा गिब्बन में मानव समान ही दन्तावली होती है। दाँतों की संख्या समान होने के साथ ही आकार भी एक समान होता है। केवल रदनक दाँत पौढ़ नर-बनमानुषों में बड़े आकार के होते हैं। नर-वानरगण में केवल ये पशु ही मनुष्य के अनुकरण पर पिछले दो पैरों पर खड़े होकर चलने का उदाहरण रखते हैं। किन्तु इतना अवश्य है कि गिब्बन को छोड़कर ये कभी-कभी ही खड़े चलते हैं। वे प्रायः चारों पैरों के बल पर ही चलते हैं। यह बात ध्यान में रखने की है कि लेमूर की कुछ जातियों के पशु भी केवल अपने पिछले पैरों पर चल सकते हैं किन्तु वे यथार्थतः कपि नहीं होते। उन्हें अनेक वैज्ञानिक स्वतन्त्र गण या विभाग में गिनते हैं। एक उल्लेखनीय समानता होती है। केवल पुच्छहीन या विपुच्छ कपि (बनमानुष) ही मनुष्य की भाँति अपनी आँतों में एक विशेष प्रवर्द्धित थैली रखते हैं जिसका शोथ होकर आन्त्र-शोथ का रोग उत्पन्न हो सकता है।

चिम्पैंजी

बनमानुषों में सबसे अधिक परिचित चिम्पैंजी होता है। यह बन्दी रूप में केवल जीवित ही नहीं रह सकता बल्कि यह कितने ही काम सिखाए जाने पर कुशलतापूर्वक सम्पन्न कर प्रदर्शन के लिए उपयुक्त होता है। कपड़े पहन लेना और उतार डालना, जूते में फीता बाँध लेना, और फिर खोल लेना सुई में तागा डाल लेना, सिगरेट जलाकर पी लेना, मनिया (मनका) गूँथकर माला

बना लेना, हथौड़े से कीला गाड़ लेना, कुंजी से दरवाजे का ताला खोल लेना, तो चिम्पैंजी द्वारा कराए जा सकने वाले छोटे-मोटे काम हैं। परन्तु साइकिल पर चढ़कर चला लेना, तथा बेलनों की गाड़ी पर फिसलते चलना उसके अद्भुत कार्य हैं। ऐसे कार्य कई चिम्पैंजियों ने कर दिखाये हैं।

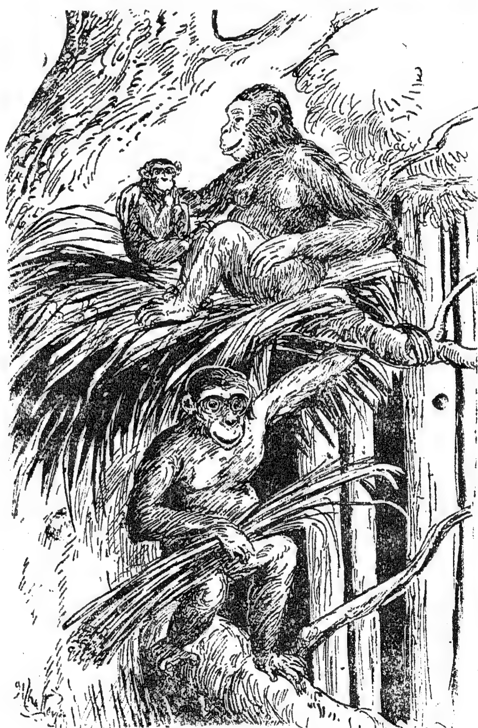
चिम्पैंजी की बुद्धि की परीक्षा उसके कार्यों से भली-भाँति की जा सकी है। एक चिम्पैंजी के कठघरे के बाहर इतनी दूर फल रखा गया कि वह हाथ से नहीं पकड़ सकता था किन्तु उसको बाँस की कई छड़ियाँ दी गईं। एक छड़ी की पतली छोर को दूसरी छड़ी के खोखले सिरे में डालकर जोड़ने का अभ्यास कराया गया। उन्हें जोड़कर वह कठघरे के बाहर रक्खे हुए फल तक पहुँचाता और चतुराई से फल को जोड़ी हुई छड़ियों से खिसकाकर कठघरे के निकट कर प्राप्त करता।

एक इसी प्रकार दूसरा प्रयोग दूसरे विद्वान ने किया। उसने तागे से फल लटकाए जो चिम्पैंजी की पहुँच से अधिक ऊँचाई पर हिलते रहते। इसके बाद लकड़ी की संदूकें और छड़ी उसके इहाते में पहुँचाई गई जिसका उद्देश्य यह देखना था, कि चिम्पैंजी उनका उपयोग फल प्राप्त करने में करता है या नहीं। कई बार फल प्राप्त करने के निष्फल प्रयत्नों के पश्चात् चिम्पैंजी की बुद्धि में उद्वेग-सा हुआ। संदूकों को एक दूसरी के ऊपर रखकर उसने छड़ी हाथ में ली और ऊपरी संदूक पर चढ़ गया। उसे फल प्राप्त हो गया।

चिम्पैंजियों का निवास पश्चिमी और मध्य उष्ण-कटिबन्धीय अफ्रीका में पाया जाता है। वहाँ वे जंगलों में रहते हैं। मनुष्यों की भाँति वे एक दूसरे से विभिन्न मुखाकृति रखते हैं। उनकी त्वचा का रंग काला, लाल या धब्बोंयुक्त होता है। सिर तथा बदन पर

बाल भी भिन्न-भिन्न चिम्पैंजी में न्यूनाधिक होते हैं। किसी में बहुत अधिक बाल उगे होते हैं तो किसी में बहुत कम या विरल बाल ही होते हैं। प्राय: बिल्कुल गंजे या चँदुले (खल्वाट) रूप का भी सिर हो सकता है।

चिम्पैंजी विपुच्छ कपियों (बनमानुषों) में सबसे छोटे आकार



चिम्पैंजी

का होता है। प्रौढ़ नर चिम्पैंजी की ऊँचाई साढ़े पाँच फुट तथा

मादा की ऊँचाई साढ़े चार फुट होती है। यह छोटे दलों में वृक्षों पर या भूमि पर रहता है। गोरिल्ला की अपेक्षा यह अधिक वृक्षचारी होता है। इसका आहार फल, हरे कोंपल, आदि हैं। किन्तु कीड़े, पतिंगे, पक्षी तथा अंडे भी खा जाता है। इसकी गन्जे सिर की (खल्वाट) जाति में वृद्धावस्था में सिर गंजा होता है। पहले विरल बाल ही सिर पर होते हैं। इस जाति का चिम्पैंजी गैबन (फ्रांसीसी उष्ण-कटिबन्धीय अफ्रीका) में रहता है।

संसार में कदाचित चिम्पैंजी के समान मानव-स्नेह का अधिकारी अन्य कोई भी जन्तु नहीं है। यह मनुष्य का प्रेमपात्र होने में घोड़े और कुत्ते को भी नीचा दिखाता है। सात वर्ष की आयु तक बड़ा विश्वास-पत्र पाया जाता है। इसकी उस समय तक उल्लासप्रिय वृत्ति होती है, परन्तु गोरिल्ला तो युवाकाल में भी मनहूस वृत्ति का होता है।

चिम्पैंजी की नग्न मुखाकृति, लंबे कान, मनुष्य की भाँति हथेली और पादतल, स्वच्छ काले, चमकीले बाल बिलकुल मानव का रूप प्रतिभासित करते हैं। यह डीलडौल में गोरिल्ला से छोटा होता है। इसके बाल काले तो होते हैं। परन्तु अन्य बहुतेरे काले बाल के जन्तुओं के विपक्ष वे वृद्धावस्था में श्वेत नहीं होते। बाहें गोरिल्ला की बाहों के अनुपात में अपेक्षाकृत बड़ी होती हैं, और उनकी शक्ति प्रबल होती है।

नर चिम्पैंजी मादा की अपेक्षा दूनी शक्ति का होता है तथा उसकी ऊँचाई ४ फुट होती है। मादा एक फुट कम ही ऊँची होती है। गोरिल्ला की भाँति चिम्पैंजी का आहार मुख्यतः शाकाहारी होता है। अधिक आयु के चिम्पैंजी तो पारिवारिक दल में रहता है परन्तु कम आयु के चिम्पैंजी अपना दल बनाकर जङ्गलों में घूमते रहते हैं।

चिम्पैंजी समाजप्रिय जन्तु है। उसे एकाकीपन से अत्यन्त घृणा है। कुछ भी न हो तो किसी छोटे बंदर के भी साथ रहना ही पसंद कर सकता है। मानव शिशु के साथ पोषित होने पर बुद्धि का विशेष प्रमाण उपस्थित करता है। कभी-कभी तो वह मानव शिशु से भी अधिक बुद्धि प्रकट करता है। किन्तु कुछ वर्षों के बाद उसकी बुद्धि का ह्रास होने लगता है। सात वर्ष के बाद वह अविश्वासी भी हो सकता है।

ओरंगउटन

ओरंगउटन चिम्पैंजी से कुछ ही कम प्रसिद्ध है। केवल इसी एक बनमानुष की जाति एशिया में पाई जाती है। इसका प्रसार बोर्नियो और सुमात्रा में है। इसका शरीर झबरे बालों युक्त लाल भूरा होता है। युवा काल में मुख का रंग मटमैला पीलापन युक्त होता है किन्तु प्रौढ़ तथा वृद्धावस्था में भूरा से लेकर काला रंग तक का हो जाता है। नर ओरंगउटन में दाढ़ी होती है तथा गाल फूले होते हैं। शरीर की ऊँचाई ५½ फुट होती है। मादा छोटी होती है। वह प्राय: अर्द्ध प्रौढ़ और अल्पायु शिशुओं के साथ ही रहती है।

ओरंगउटन की पहचान उसके लम्बे, बिखरे तथा लाल भूरे रङ्ग के बाल हैं। ओरंगउटन शब्द का ही अर्थ बन का आदमी होता है। इसकी बाहें इतनी अधिक लम्बी होती हैं कि बिल्कुल खड़े होने पर भी उनकी उँगलियों से भूमि स्पर्श कर सकता है। इस कारण इसे प्रलंबबाहु विपुच्छ कपि भी कह सकते हैं। इसकी हथेली बहुत लंबी होती है और उगलियाँ आधार तल की ओर त्वचा की फैली पट्टी या अंगुलिजाल से बँधी होती हैं। वह त्वचाजाल उँगलियों की पहली संधि तक फैला होता है। उसके हाथ-पैर के अँगूठे बहुत छोटे होते हैं। वृद्ध जन्तुओं में अँगूठे की अंतिम संधि

प्रायः लुप्त होती है। यह इन जन्तुओं में एक विचित्र विशेषता होती है। इसका कारण कोई रोग नहीं होता।

नर ओरंगउटन की गर्दन में जो थैलीनुमा त्वचा का उभाड़ होता है वह त्वचा के मोड़ों से बनी होती है। यह वायु-थैली या स्वर-कोष्ठक को आच्छादित रखता है जिसका श्वास-नलिका (टेंटुआ) से सीधा सम्बन्ध होता है। सुमात्रा के ओरङ्गउटन में वृद्ध जन्तुओं के मुख पर मोटी त्वचा का मस्से से आच्छादित उभाड़ होता है जो सिर के दोनों ओर माथे तथा ठुड्डी तक बढ़ा रहता है।



ओरंगउटन

ओरङ्गउटन शाकाहारी और वृक्ष-चारी होता है। यह जङ्गलों में रहता है और फल तथा शाक का आहार करता है। बाँस के कोंपल इसे अधिक प्रिय होते हैं। यह गोरिल्ला की भाँति वृक्ष की शाखाओं पर शयनमंच बना लेता है। रात को विश्राम करने जाने पर वे प्रायः अपना शरीर बड़ी पत्तियों से ढक लेते हैं जो ओढ़ने सा काम दे जाता है। वर्षा से भी उनकी रक्षा इस प्रकार हो जाती है। सूर्य के निकलने के बाद जब पत्तियों और घासों पर की ओस सूख जाने के बाद ही वे जगकर उठते हैं।

प्रबल शक्तिशाली होने के कारण ओरङ्गउटन पर कोई भी जन्तु आक्रमण करने का प्रयास नहीं करता। अजगर और घड़ियाल अवश्य ऐसे जन्तु हैं जो इस पर आक्रमण कर सकते हैं, किन्तु अधिकांशतः अपने आक्रामक घड़ियाल से जबड़ों को प्रबल बाहुओं

की शक्ति से पृथककर पछाड़ देता है। अजगर भी ओरङ्गउटन पर आक्रमण करने का साहस कर प्रायः मुँह की ही खाता है। यह अजगर के लपेटन को अपने जबड़े से पकड़ कर उसका मांस काट फेंकता है तथा रीढ़ तोड़ देता है। इस कारण अजगर अपने लपेटन का पाश तोड़ देता और मृत हो जाता है।

ओरंगउटन शान्त पशु है और चिम्पैंजी की अपेक्षा अधिक सुस्त वृत्ति रखता है। यह कभी भी उछाल या कुदान नहीं कर सकता, फिर भी शाखाओं पर इतनी शीघ्रता से चल सकता है कि जङ्गल के मध्य वृक्षों पर भागते हुए उसे भूमि पर दौड़ने वाला कोई व्यक्ति उसका पीछा नहीं कर सकता।

ओरंगउटन का रूप चिम्पैंजी तथा गोरिल्ला की अपेक्षा कम ही मानव सदृश होता है। इसके शरीर का रंग लाल भूरा होता है और बाल लम्बे होते हैं। यह अपने अन्य बंधुओं की अपेक्षा अधिक वृक्षचारी होता है।

गिब्बन की भाँति ओरंगउटन में भी कलाई में एक अतिरिक्त अस्थीय उभाड़ होता है। उससे उस जोड़ को अधिक मुड़नशीलता प्राप्त होती है। अपने सभी क्रिया-कलापों में यह चिम्पैंजी की अपेक्षा शिथिल होता है। शिशु रूप में चपल और विचित्र होता है परन्तु अवस्था अधिक होने पर बुद्धि-कौशलहीन होने लगता है। सिर आगे झुक जाता है।

ओरंगउटन की आँखें निकट-निकट होती हैं। कान और नाक बहुत छोटे होते हैं। ऊपरी ओठ बहुत अधिक बड़ा होता है किन्तु वह शीघ्र सिमट भी सकता है जिससे इसके भीषण दाँत बाहर दिखाई पड़ जायँ।

यह घने तथा आर्द्र जंगलों का रहनेवाला है। इसके प्रधान

शत्रु वृहद् विडाल और साँप होते हैं। यह वृक्षचारी वृत्ति रखता है किन्तु खेतों की फसल का संहार करना हो तो भूमि पर उतर आता है। यह गोरिल्ला की भाँति अपने लिए वृक्षों पर शयन-मंच बनाता है। अपना शरीर पत्तियों से ढककर धूप तथा वर्षा से बचना चाहता है। बन्दी रूप में यह समाचारपत्र के कागज ओढ़ कर धूप से बचने का प्रयत्न करता है परन्तु उसे प्रायः ऐसी आवश्यकता बंदी रूप में होती ही नहीं।

ओरंगउटन भी चिम्पैंजी इतना ही बुद्धिमान होता है या नहीं, इस प्रश्न का उत्तर देना कुछ कठिन जान पड़ता है। यह ऊपर से उतना चैतन्य नहीं दिखाई पड़ता तथा सिखाने पर बुद्धिमानी के खेल दिखाने में समर्थ नहीं होता। परन्तु इसका कारण यह हो सकता है कि यह शिक्षक के आदेश की हठपूर्वक अवहेलना करता है। कई उदाहरण ऐसे पाए जाते हैं जिसमें इसने बुद्धि का उपयोग कर दिखाया। अधिक वयस्क बंदी ओरंगउटन द्वारा जन्तुशाला पर आक्रमण करने का भी उदाहरण पाया जाता है।

साधारण जीवन-क्रम में ओरंगउटन गोरिल्ला तथा चिम्पैंजी के समान होता है। यह पारिवारिक दल रूप में रहता है। दिन को आहार ढूँढ़ता रहता है तथा रात को सोता है। एक बार में एक ही शिशु उत्पन्न होता है, जिसको शिक्षा का भार मादा पर ही होता है प्रथम वर्ष पूर्ण होने तक मादा अपने शिशु को कमर पर लादे-लादे चलती है। वृक्षचारी जीवन के कारण उसमें कुछ विशेषताएँ भी होती हैं। यह एक स्थान पर वृक्ष पर शयन-मंच बनाए बिना अधिक समय तक कभी नहीं रहता। अपराह्न के विश्राम के लिये भी मामूली मञ्च बना लेता है। इसका निवास ऐसे जंगलों में होता है जहाँ विषैले या विषहीन दोनों ही साँप पाए जाते हैं। उनसे यह भय खाता है।

गोरिल्ला

गोरिल्ला सबसे बड़े आकार का विपुच्छ कपि या वनमानुष है। यह मध्य अफ्रिका के घने जंगलों में पाया जाता है। उष्णकटिबंधीय भूभाग के केमेरून तथा कांगो प्रदेशों में इसका निवास है। नर गोरिल्ला मादा से बड़ा होता है। उसकी ऊँचाई छः फुट तक होती है। वयस्क पुरुष से भी उसके कंधे प्रशस्त होते हैं। इसके बाल काले होते हैं। सिर पर प्रायः लाल भूरा रंग होता है। वृद्ध नर के शरीर का रङ्ग धूसर हो जाता है। इसका मुख पूर्णतः काला तथा बालहीन होता है। यह जंगलों के सघनतम भाग में आंशिक रूप में वृक्ष पर और अधिकांशतः भूमि पर रहता है। इसका आहार फल और वनस्पति हैं।

पर्वतीय गोरिल्ला एक उपजाति होती है। यह अपेक्षाकृत शीत वातावरण में ऊँचाई पर किवू झील के उत्तर ज्वालामुखीय पर्वत के ढाल पर पूर्वी कांगो (अफ्रिका) में पाया जाता है। इसके बाल लंबे, झबराले और गहरे भूरे या कलौंछ होते हैं। साधारण या निम्नतलीय गोरिल्ला के बालों का भी यही रंग होता है, किन्तु उसके बाल छोटे होते हैं। पर्वतीय गोरिल्ले की पीठ के मध्य धूसर रंग का जीन समान चिन्ह सा होता है।

गोरिल्ला भीमकाय जंतु है। इसका भार ६ मन होता है। किन्तु इसकी ऊँचाई महत्वपूर्ण नहीं होती क्योंकि यह प्रायः चारों पैरों पर चलने का अभ्यस्त होता है। इसकी बाँह चिम्पैंजी की बाँह से छोटी होती है। अतएव इसका मुख भूमि के अधिक निकट रहता है।

प्रौढ़ गोरिल्ला में पाँच या छः आदमी के बराबर बल होता है। इतना भीषण बल उसे पत्ती, फल, वनस्पतियों में जड़ तथा ईख



गोरिल्ला

के खाने से प्राप्त हुआ रहता है। वे साधारणतया शान्त रहने वाले

जंतु हैं किन्तु बाधा पहुँचाने या उद्विग्न किए जाने पर भयानक रूप धारण कर लेते हैं।

गोरिल्ला में अपनी कोई पृथक सामाजिक व्यवस्था होती है। एक बार में एक शिशु उत्पन्न होता है। कुछ वर्षों तक अल्पायु गोरिल्ले माता पिता के साथ ही रहते हैं। एक पारिवारिक दल में एक दलपति अर्थात् बड़े नर के साथ कई मादाएँ और अनेक आयुओं के शिशु होते हैं। यह दल जंगम (सदा घूमता फिरता) ही रहता है। कोई स्थायी निवास नहीं होता। दिन को घूमते और आहार-प्राप्ति में व्यतीत कर रात को कहीं पड़ाव पड़ता है। एक स्थान में कदाचित ही दुबारा पड़ाव पड़ता है। पड़ाव भी क्या होता है, किसी वृक्ष का आश्रय होता है। शिशु और मादाएँ वृक्ष के ऊपर भेज दी जाती हैं। वे छोटी टहनियों और डालों द्वारा एक बेडौल सा मंच बनाकर सोते हैं दलपति, एक मात्र नर गोरिल्ला, वृक्ष के नीचे ही उस पारिवारिक दल की रक्षा के लिए प्रहरी की भाँति तने से झुक कर बैठ जाता है। उसकी भुजाएँ छाती पर मुड़ी रहती है। ऐसे विकट प्रहरी के रहते इस दल को तनिक भी कष्ट पहुँचाने का साहस किस जंतु को हो सकता है।

बन्दी रूप में गोरिल्ला के शिशुओं को पालकर देखा गया है कि १५ सेर तोल का शिशु एक वर्ष में दूने तोल का हो जाता है और छः वर्षों पश्चात् सात मन तोल का हो जाता है।

गोरिल्ला बहुत उत्तेजित होने पर विकट शब्द करता है जो मीलों तक सुनाई पड़ सकता है किन्तु साधारणतया उसका शब्द कुत्ते के भौंकने समान ही होता है। ऐसा अनुमान था कि गोरिल्ला विकट शब्द उत्पन्न करने के साथ ही अपने वक्षस्थल पर ताल भी ठोकता है परन्तु बन्दी गोरिल्लों को किसी भी भावातिरेक में

उच्चघोष किए बिना ही छाती पर ताल ठोकते (हाथ पीटते) देखा गया है।

गोरिल्ला को उन जंगलों में कभी नहीं पाया जा सकता जिनमें चिम्पैंजी रहता है। पूर्वी कांगों में कुहरे से आच्छादित रहने वाले ऊँचे पर्वतों में समुद्रतल से सात हजार या इससे भी अधिक ऊँचाई पर पर्वतीय गोरिल्ला रहता है। निम्नतलवासी गोरिल्लों की भाँति इसका परिवार वृक्षों पर टहनियों का मञ्च बना कर नहीं सोता बल्कि भूमि पर ही घास तथा अन्य वनस्पतियों से घोंसला सा बना कर सोता है। इन गोरिल्लों को कीवू गोरिल्ला नाम दिया गया है।

गोरिल्ला को बन्दीरूप में अधिक समय तक जीवित रखना कठिन होता था। उसका कारण यह है इसके स्वभाव, रहन-सहन आदि का ज्ञान न होने से इसके रहने के लिए आदर्श व्यवस्था नहीं की जा सकती थी। अतएव उसकी शीघ्र मृत्यु हो जाती थी। परन्तु उसे पालकर अधिक समय तक रखना सम्भव हो सका है। पालतू बनाए जाने वाले गोरिल्लों में एक बहुत प्रसिद्ध गोरिल्ला जान डेनियल नाम का है जो जुलाई १९१८ में इंगलैण्ड में पहुँचाया गया। यह फ्रांसीसी उपनिवेश में अफ्रीका के गैबुन जिले में बहुत शिशु अवस्था में पकड़ा गया। तीन वर्ष की आयु तक तो वहीं पलता रहा, परन्तु बाद में इंगलैण्ड पहुँचा। कई हाथों में बिक कर अन्त में यह कुमारी एलाइज कनिंघम नाम की एक सम्भ्रान्त महिला द्वारा क्रय किया गया। वहाँ एक भवन में परिवार का सदस्य सा बन कर रहने लगा। एक कमरा इसे पृथक सोने के लिये दिया गया। भवन के अन्य भागों में आने-जाने की इसे स्वतन्त्रता थी। यह किवाड़ खोलने के दस्ते को घुमा कर किवाड़ खोल या बन्द कर लेता। भोजन के समय मेजर के बगल कुर्सी ठीक

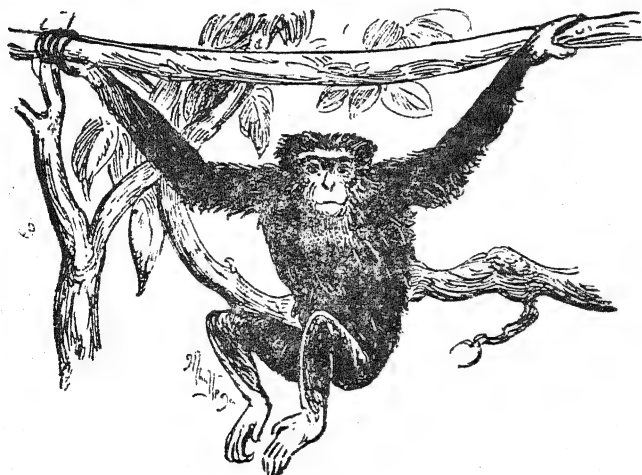
रख कर बैठता। यदि अँधेरा होता तो बिजली बत्ती का स्विच गिरा कर प्रकाश कर लेता था। प्रात:काल उष्ण जल के स्नान का आनन्द लेता। मनुष्य की तरह स्पञ्ज से शरीर रगड़ कर स्वच्छ करता।

कुमारी कनिंघम ने एक घटना का उल्लेख किया है। उनको एक दिन स्वच्छ कपड़े पहन कर बाहर जाते देख गोरिल्ला उनके निकट चला आया और गोद में उछल कर जाने का प्रयत्न करने लगा। उसे ऐसा करने की अनुमति नहीं दी गई। यह कितना भी स्वच्छ रहता हो, फिर भी वस्त्र गन्दे होने की आशंका थी। अपना निरादर सा समझ कर गोरिल्ला भूमि पर लोट कर रोने लगा, किन्तु थोड़े समय में ही उठा और एक सम्वादपत्र का पन्ना उठा लाया। उसे खोल कर उसने अपनी स्वामिनी के घुटने पर रख दिया। कपड़ों को मैला न होने देने का बहाना दूर कर गोद में जा बैठने का यह कितना कौशलपूर्ण उद्योग था। यह गोरिल्ला १६२१ में अप्रैल मास में अमेरिका जाने पर मृत हुआ।

भारत में गोरिल्ले का ज्ञान कभी रहा होगा या नहीं, यह कह सकना कठिन है, परन्तु पाश्चात्य देशों में किसी भी अन्य बन-मानुष से बहुत पूर्व ज्ञात किया गया था। कार्थेज के एक यात्री हन्नो ने अपनी यात्राओं के वर्णन में ईसा पूर्व ४७० में ऐसे जंतु का उल्लेख किया था। १६२५ ई० में ऐन्ड्रू बैटेल नाम के एक अँगरेज यात्री ने पोंगो नाम से गोरिल्ला तथा एंगेका या एंजोको नाम से चिम्पैञ्जी का उल्लेख किया था किन्तु एक अमेरिकीय पादरी द्वारा गोरिल्ला का कपाल १८४७ ई० में बोस्टन पहुँचाया गया। १८५१ में तो एक पूर्ण कङ्काल शल्यविज्ञान महाविद्यालय, इंगलैण्ड को प्राप्त हुआ। १८५८ में सुरासार में रक्षित पूर्ण शरीर ब्रिटिश म्यूजियम में पहुँचा।

गिब्बन

गिब्बन सब से निम्न श्रेणी का विपुच्छ कपि या बनमानुष है। ये मनुष्य के निकटतम जन्तुओं में निम्नतम स्थान पा सकते हैं। इनकी विशेषता बाँहों की विशालता है। गिब्बन के खड़े होने पर उसके बाहु की हथेली भूमि स्पर्श करती है। अँगूठा भलीभाँति रचित होता है, किन्तु हथेली का उपयोग साधारण रूप में गतिशील अवयव के स्थान पर लोहे की चिमटी की तरह कोई वस्तु बलपूर्वक दबा सकने समान ही होता है। कुछ जातियों के गिब्बन में दूसरी



गिब्बन

और तीसरी उँगलियाँ प्रायः जुट कर एक हो गई होती हैं या अङ्गुलिजाल (त्वचा की पट्टी या जाली) से सम्बद्ध होती हैं तथा पैर की लम्बाई हाथ से बड़ी भी पाई जाती है। सिर बिल्कुल गोला-

कार सा होता है, तथा नासिका अन्य सभी विपुच्छ कपियों (बनमानुषों) की अपेक्षा अधिक उभड़ी (सेतुवत) होता है। रोमाच्छादन गहरा और मोटा होता है। उष्ण कटिबन्ध में उष्णता तथा आर्द्रता से व्याकुल जन्तु के लिए घने लम्बे बालों की व्यवस्था आश्चर्यजनक ही जान पड़ती है। इतना अवश्य है कि वृक्षों के शृंग ग्रीष्म काल की रात्रि में भी अधिक ठंडे होते हैं। दूसरे वर्षा से रक्षा के लिए लम्बे घने बाल उपयुक्त साधन हैं। ऊपर से बूँद-बूँद चू सकने वाली स्थिति और सीधी धूप से भी रक्षा मिलती है।

गिब्बन की विशाल, चमकीली तथा दूर-दूर आँखें उसके जिज्ञासु तथा चपल मस्तिष्क का आभास देती हैं। ये बड़े शिक्षणशील और मिलनसार होते हैं। मानव समाज में रहने के शीघ्र अभ्यस्त हो जाते हैं तथा उच्चतर विपुच्छ कपियों को सिखाए जा सकने वाले कौशलपूर्ण कार्य सम्पन्न करना सीख जाते हैं।

गिब्बनों का प्रसार आसाम, बर्मा, थाईलैंड (स्याम), हिन्द-चीन, मलाया, सुमात्रा, जावा और बोर्नियो में है। इसकी दो प्रजातियाँ पाई जाती हैं। स्यामंग प्रजाति सुमात्रा और मलाया में पाई जाती है। इसकी लम्बाई ३ फुट से कुछ अधिक होती है। इसका रंग गहरा काला होता है। ठुड्डी लाल भूरी होती है। दूसरी प्रजाति में हूलक और लार जातियाँ होती हैं। इस प्रजाति को हाइलोबेट नाम दिया जाता है। लार गिब्बन का आकार भी स्यामंग और हूलक के बराबर ही होता है। इसका रंग धूसर काला से लेकर पीलापनयुक्त श्वेत तक होता है। मुख नग्न काला होता है। गलमुच्छा श्वेत होता है। हाथ-पैर उजले से होते हैं। इसकी कई उपजातियाँ तनासराम (बर्मा), थाईलंड (स्याम) मलाया प्रायद्वीप, जावा, सुमात्रा और बोर्नियो में पाई जाती हैं। हूलक जाति का गिब्बन आसाम तथा बर्मा पहाड़ियों में पाया जाता है। इसका

रंग काला होता है। माथे पर श्वेत रंग की रेखा होती है। हिन्दचीन में इन्हीं की प्रजाति में कानकलर नाम की जाति पाई जाती है।

स्यामंग गिब्बन के शरीर में पित्ताशय के समान कोई थैली होती है जो हवा भरने से अंगूर के दाने बराबर हो जाती है। यह उस की स्वर-लहरी को अधिक गुञ्जित करती है। सभी गिब्बनों में उच्च शब्द करने का गुण मुख्य होता है। मीलों तक उनका उच्च नाद सुना जा सकता है। प्रातः-संध्या शब्द करने के विशेष अवसर ज्ञात होते हैं। हूलक का उच्च स्वर उनके नाम के अनुकूल कहा जा सकता है। यह "हू.........लक, हू ऊ ऊ.........लक" शब्द आवृत्त करता प्रतीत होता है।

गिब्बन समाज प्रिय होते हैं। अपनी उपस्थिति घोषित करने के लिए सामूहिक रूप में गीदड़ों की भाँति चिल्लाहट सी मचाकर गायन का स्वाँग कर बैठते हैं। जन्तुशालाओं में कोई भी घटना होने, किसी दर्शक मण्डली के आने या अन्य किसी बात से उनमें गा उठने की वृत्ति जाग पड़ती है। कभी सन्ध्या को वाद्य-यन्त्रों का स्वर या गायन सुनकर वे चुप बैठे सुनते हैं।

गिब्बन, बिना किसी भी अपवाद के सभी विपुच्छ एवं पुच्छीय कपियों से अधिक क्रियाशील होते हैं। उनकी चपलता की किसी अन्य जन्तु द्वारा बराबरी नहीं हो सकती। पूँछ न होने पर भी ये बाहु से काम लेकर सावधानीपूर्वक चल लेते हैं। किसी वृक्ष की आड़ी डाल पर ये अपना हाथ शरीर से समकोण सा बनाकर मोड़े रख दौड़ सकते हैं। परन्तु उनका अधिक अभ्यास हथेली को भूमि पर रख कर बाहु के बल ही चलने का होता है। एक बार हथेली भूमि पर कर दूसरी बार आगे की ओर उसे रखने में वे तीस फुट मार्ग पार सकते हैं।



वानर-वंश

वानर-वंश में पूर्वी गोलार्द्ध के सभी बन्दरों, लंगूरों आदि की गिनती होती है। बेबून की भी उसी में गिनती है। वानर-वंशी जन्तु भी नर रूप गण में माने जाते हैं, परन्तु वन मानुसों की अपेक्षा वे न्यून ही मानवरूप होते है। इनकी अधिकांश में विभिन्न लम्बाई की पूँछ होती है। किन्तु कुछ वानर-वंशी जन्तु भी पुच्छ हीन होते हैं। सैकड़ों जातियों के वानर पाए जाते हैं जो रूप रङ्ग तथा शरीर की आंतरिक रचना में विभिन्नता रखते हैं। कुछ पत्तियाँ खाने वाले बानरों की जातियाँ ऐसी होती हैं जिनका अमाशय रोमथक (जुगाली करने वाले) चौपायों सा ही होता है। अधिकांश वानर वृक्षचारी होते हैं।

बैबून

बैबून अफ्रिकीय वानर हैं जिन्होंने वृक्षचारी जीवन का परित्याग कर भूचारी जीवन ग्रहण कर लिया है। ये प्रायः खुले मैदान में रहते हैं। अतएव इन्हें भूचारी चौपायों की भाँति रूप धारण करते पाया जाता है। वक्षस्थल गहरा बना होता है तथा पार्श्व भागों से दबा होता है। पूँछ उपयोग में न होने के कारण क्षीण बन गई होती है। हाथ भूमि के सतत संपर्क के कारण कुन्द और कठोर बन गए होते हैं। उनको अपना भोजन भी प्रायः भूमि से ही प्राप्त होता है। अतएव नासिका अत्यधिक संवेदनशील बन गई होती है जिससे भोजन शीघ्र ढूँढ़ सकें। मुख का रूप शूकरवत बना होता है। उनकी आँख की रक्षा के लिए भौंहों के स्थान पर

उभड़ी हुई अस्थि होती है, जिससे उनकी विकट मुखाकृत्ति बन गई होती है। रदनक दाँत बढ़कर प्रबल अस्त्र का रूप धारण किए रहते हैं। उनका उपयोग केवल प्रतिद्वन्दी नर बैबूनो से ही संघर्ष करना नहीं होता है बल्कि विकट हिंसक जन्तुओं के प्रहार का भी शमन करने में होता है।

बैबून अन्य नर-रूप जन्तुओं की भाँति उभयभक्षी (मांस तथा शाक भक्षी) होते हैं। आमिष भोजन की खोज में वे बालू को खोदते हैं और सावधानीपूर्वक उसे छानकर सरीसृपों, अंडों, कीटों आदि की खोज करते हैं। बिच्छू या बर्रे को आहार बनाने के पूर्व वे डंक हीन कर लेने का बराबर ध्यान रखते हैं। जो भोजन तुरन्त ग्रहण नहीं करना होता उसे मुख में संचित कर. रखने के लिए विशेष थैली बनी होती है। उसे कपोलीय खाद्यधानी कह सकते हैं। यह विधि कदाचित पूर्वी गोलार्द्ध के वानर-वंशियों में सामाजिकता की की वृत्ति के कारण रही हो जिसमें एक सदस्य के भोजन पाकर तुरन्त ही दूसरे को हस्तान्तरित कर रक्षित किया जा सकता हो अथवा शीघ्रता में स्वयं ही उसे मुख के अन्दर डाल-डालकर भाग जाना सम्भव हो।

बैबून कुछ अन्य वानरों की भाँति अपने शरीर पर विशेषतया पिछले भाग में त्वचा के नग्न भाग प्रदर्शित करते हैं। गेलाडा बैकून में केवल नितंबों पर ही नग्न त्वचा नहीं होती, बल्कि वक्षस्थल पर भी होती है।

बैबून समाजप्रिय जन्तु हैं। यह वृत्ति उनको बल प्रदान करती है। ये पचीसियों से लेकर सैकड़ों की संख्या में यात्रा करते हैं। कहीं खेत में पड़ते ही उसका सर्वनाश कर देते हैं। सिंह और चित्र-व्याघ्रों द्वारा इनका कुछ बध हो सकता है किन्तु कभी इनका संख्या-

ह्रास नहीं होता। इनके रहने का विशेष क्षेत्र होता है। इनमें कुछ सामाजिक नियम भी होते हैं।

बैबूनों का झुण्ड पारिवारिक दलों द्वारा बना होता है। प्रत्येक दल का एक नर बैबून दलपति होता है। कभी उसी में दूसरा नर बैबून प्रौढ़ तथा पुष्ट होकर अपनी प्रबलता का प्रमाण संघर्ष द्वारा देता है और दल के दो टुकड़े हो सकते हैं या किसी प्रतिद्वन्द्वी की मृत्यु भी हो सकती है। एक दल की मादा किसी अन्य दल में सम्मिलित हो जाय तो उसके लिए दूसरे दल से झगड़ा हो सकता है जिसमें कदाचित् उस विश्वासघाती या दल-परित्यक्ता मादा को अपने प्राण भी गँवाने पड़ सकते हैं।

बैबूनों को आहार के लिए छोटे-मोटे झगड़े उठने के अतिरिक्त प्रायः सहिष्णुतापूर्वक शान्त रहने की वृत्ति रखते पाया जाता है। कभी-कभी तो उनकी सहकारिता बड़ी प्रशंसनीय हो सकती है। किसी दल के कुछ शस्त्रधारी शिकारियों द्वारा पीछा किए जाने पर यदि कुछ अल्पायु शिशु पीछे छूट जायँ तो उन्हें बचाने के लिए कुछ वयस्क नर बैबून अपने प्राण का भय छोड़कर पुनः पीछे जाते हैं और उन्हें बचा लाने का प्रयत्न करते हैं। कुत्ते उनके उत्तेजित दल का सामना करने में असमर्थ ही होते हैं। ये अपने प्रबल रदनक दाँत बाहर निकालकर शरीर के बाल खड़े कर लेते हैं और उच्च स्वर से पुकार मचाने लगते हैं। ऐसे विकट प्रदर्शन के सम्मुख प्रायः कुत्ते नहीं टिक सकते। कुछ विशेष रूप के सिखाए शिकारी कुत्ते ही उनका शिकार करते हैं। वे कुत्ते बैबूनों के चारों ओर चक्कर लगाते-लगाते उन्हें भौचक्का बना देते हैं और अचानक पीछे से प्रहार कर देते हैं। उस दशा में बैबून धोखा खाकर आहत हो जाते हैं। फिर भी उनकी सतर्कता तथा रक्षा करने का साहस उल्लेखनीय है।

वैबून दिन का आहार खोजते तथा रात को विश्राम करते हैं। रात्रिकाल का आश्रयस्थल कोई घनी हरियाली का स्थल हो सकता है। एक बार में एक शिशु ही उत्पन्न होता है जिसे माता पहले उदर से चिपका कर चलती है। बाद में पीठ पर बैठा कर चलती है।

बाल सँवारने की क्रिया भी वैबूनों में देखी जाती है। दल की मादाएँ एक दूसरे के प्रतिस्नेह भाव दिखाने के लिए दूसरे का बाल सँवारती हैं। दलपति के भी बाल कुछ स्नेहपात्र सदस्य उसका आदेश पाकर सँवारते हैं।

पूज्य या तारतारी वैबून मिस्र, अबीसीनिया सूडान तथा अरब में पाया जाता है। इसका रंग धूसर-सा होता है तथा मुख चमकीला गुलाबी होता है। नर में कंधे के ऊपर घने बालों की ओढ़नी सी बनी होती है जिससे उसका रूप भव्य बना होता है। मिस्र में यह पूज्य माना जाता था। ईसा के पूर्व हर्मोपोलिस नगर को मिस्र-वासियों ने वैबूनों को ही समर्पित-सा कर दिया था। वैबून को बहुसंख्यक भित्ति-चित्रों में पाया जाता है। संरक्षित प्राचीन शवों रूप में भी इसे मिस्रवासियों ने संरक्षित रक्खा। किन्तु ये जन्तु पूज्य ही नहीं थे। दैनिक उपयोग में भी आ सकते थे। भित्तिचित्रों तथा पेपिरस (प्राचीन चित्रों) द्वारा सिद्ध होता है कि ये अनेक कार्य करते थे। प्रहरी शिकारी कुत्ते आदि का काम करते, फल-संचय कर सकते, फलाच्छादित वृक्षों पर चढ़ाकर इनसे फल तोड़-वाए जाते। नाव खेने की भी शिक्षा इन्हें दी जाती।

गेलाडा वैबून दक्षिणी अफ्रीका में पाया है। इसके वक्षस्थल पर नग्न त्वचा होती है। जैतूनी वैबून तथा गिनी वैबून छोटे या मझोले डीलडौल के होते हैं। ये पूर्वी और पश्चिमी अफ्रीका में

पाये जाते हैं। पीला बैबून भी इन्हीं के आकार का होता है। वह दक्षिणी अफ्रीका में पाया जाता है।



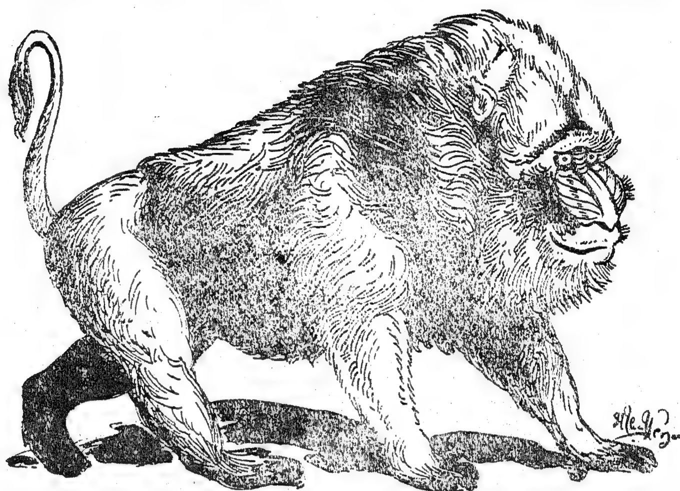
चकमा बैबून

चकमा बैबून भीमकाय होता है। यह दक्षिणी अफ्रीका में

पाया जाता है। यह बुद्धिमत्ता के कार्य कर दिखाने के लिए प्रसिद्ध है। एक चकमा बैबून के कृत्यों का गुणगान तो सारा संसार ही करता है। १८७७ ई० में एक रेलवे कर्मचारी की टाँगें कट गई थीं। वह सिगनल घर में काम करता था। इसलिए वहाँ तक आना जाना पड़ता। उसने एक ठेला गाड़ी बना ली जो पटरी पर एक लग्गी से चलायी जा सकती। उसकी सहायता एक पालतू कुत्ता करता। उस कर्मचारी ने दक्षिण अफ्रीका से एक चकमा बैबून प्राप्त किया। उसे सिखाकर कुत्ते के साथ ही ठेला गाड़ी चलाने में सहायक बनाने का उसने अभ्यास कराया। कुत्ते की मृत्यु पर वह चकमा बैबून ही अपने स्वामी की ठेलागाड़ी चला लेने लगा। वह एक मामूली पंप को चलाकर पानी निकाल लेने का भी काम कर लेता। एक हल्के इंजिन के चालक तक वह एक कुन्जी लेकर दे आता। दिन भर काम कर लेने के बाद वह कुटी में आकर अपने स्वामी का सिर धीरे-धीरे दबाता।

मैंड्रिल बैबून चकमा बैबून के बराबर आकार का ही होता है। उसके शरीर की ऊँचाई पिछले पैरों पर खड़े होने पर चार फुट से अधिक होती है। इसके शरीर का रंग हरापन युक्त भूरा होता है। मादा तथा अल्पायु मैंड्रिल का मुख मटमैले रंग का होता है। प्रौढ़ नर का रंग अद्वितीय होता है। ऊपरी रदनक दाँत का विशेष विकास कपोल की अस्थियों को ऊँचे उभाड़ रूप में कर देता है जो सुन्दर आसमानी रंग की त्वचा के मोड़ से आच्छादित रहता है। इसके शरीर का रंग लाल भूरा होता है जो अधोतल में मखनिया या (हल्का बादामी) श्वेत हो जाता है। नासिका रक्त वर्ण की होती है। हल्के गुलाबी रंग के कान, हाथ और पैर होते हैं। दाढ़ी मक्खनिया रंग की होती है। पिछले पैर मुख के रंग के ही होते हैं। इन विचित्र रंगों में इस बैबून का शरीर दर्शनीय होता है।

मैंड्रिल बैबून पश्चिमी अफ्रीका में पाया जाता है। यह छोटे झुण्ड रूप में रहता है। कहा जाता है कि यह अकेले ही चित्रव्याघ्र



मैंड्रिल बैबून

(तेंदुआ) को पराभूत कर सकता है। बन्दी मैंड्रिल बैबून चूहे-चूहियाँ, गौरैया आदि पकड़ कर खा जाता है। उनको वह सर्वांग निगल जाता है।

मैंड्रिल बैबून का प्रसार कुछ अधिक व्यापक क्षेत्रों में पाया जाता है। इसका रंग-रूप मैंड्रिल बैबून-सा ही होता है। परन्तु मुख का रंग एक समान काला होता है और निचला ओठ प्रौढ़ नरों में एक सुन्दर रक्त वर्ण की पट्टी द्वारा चिह्नित होता है। यह बैबून भी मैंड्रिल की ही भाँति भीषण और युद्धप्रिय होता है किन्तु यह शुद्ध बैबूनों की अपेक्षा छोटे दल रूप में ही रहता है।

विकृतिमुखी कपि (ग्वेनोन)

वानर-वंशी जन्तुओं में सब से बड़ा समुदाय ग्वेनोन्स बन्दरों का है। इन्हें विकृतिमुखी कपि नाम दे सकते हैं। यह जाति बड़े आकार की होती है और केवल अफ्रीका में पाई जाती है। ये झुण्ड रूप में अफ्रीका के उष्ण-कटिबन्धीय भागों में रहते हैं। इनकी पूँछ लम्बी होती है। इनके शरीर पर एशियाई बन्दरों की अपेक्षा अधिक पूर्णतः बाल उगे होते हैं। बालों का प्रचुर रंगीन रूप होता है। गालों की खाद्य द्रव्य चुरा कर रखने वाली थैली बड़ी होती है।

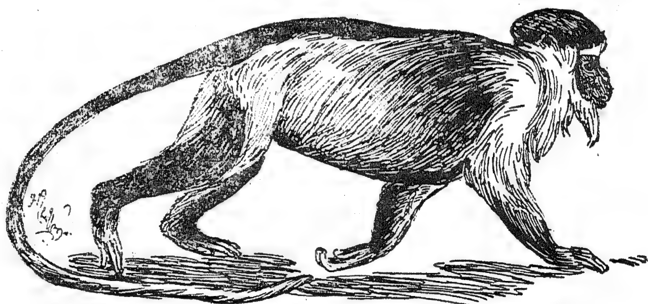
ग्वेनोन्स बन्दर पालतू बनाने में सबसे अधिक उपयुक्त होते हैं। उसका कारण इनकी सुन्दरता नहीं है। बल्कि इनका उत्तम स्वभाव है। अन्य बन्दरों की भाँति ये भी एक दूसरे का जूँ हेरने का स्वाँग करते हैं। परन्तु बन्दरों में जूँ पड़ ही नहीं सकती। बालों के मध्य मुर्दा त्वचा की टूटी परतें होती हैं जो लवणीय होती हैं। कदाचित उसे ही प्राप्त करना उनका उद्देश्य होता है।

अनेक प्रकार के ग्वेनोन्स या विकृतिमुखी कपियों में बालों का रंग श्वेत तथा अन्य रंगों का झिलमिल रूप का होता है। इस रूप का कारण यह होता है कि प्रत्येक बाल में कई रंगों की चूड़ियों या अँगूठियों-सी चारों ओर घूमी आड़ी गोल रेखाएँ होती हैं। सबसे अधिक प्रसिद्ध ग्वेनोन की जाति हरित वानर होती है किन्तु उसके बालों का रंग हरा भासित होने का यह कारण होता है कि उसके प्रत्येक बाल में एकान्तर रूप से श्वेत और काली रेखा-मुद्रिकाएँ या चूड़ियों-सी गोल पट्टियाँ होती हैं। इनके मिलने से हरा-सा रंग प्रतिभासित होता है। यह प्रसिद्ध वृक्षचारी बन्दरों में से है। दक्षिण अफ्रीका में पाया जाता है। यह अत्यन्त कृशकाय होता है। स्थानीय कसानों से जान बचाने के लिए इसे सदा सजग रहना पड़ता है।

बनविडाल, साँप तथा शिकारी पक्षियों से भी इसे अपनी जान बचाने का सदा प्रयत्न करना पड़ता है। फसल की रक्षा के लिए इनका संहार शिकारी पक्षियों द्वारा होते देख किसान शिकारी पक्षियों को आदर की दृष्टि से ही देखते हैं।

हरित बन्दर के दो दल परस्पर मुठभेड़ कर भी अपना संहार करते हैं। किसानों के लिए एक दूसरी विपत्ति यह होती है कि जो कीटभोजी पक्षी टिड्डी तथा अन्य कीटों का भक्षण करते हैं, उन पक्षियों के अंडे हरित बन्दर खा जाता है जिससे उनकी संख्या का ह्रास होता है। किन्तु घास चरने वाले पशु गोबलाका की भाँति हरित बन्दरों का भी स्वागत ही करते हैं क्योंकि ये उनकी बदन पर बैठ कर उनकी किलनिमों या अन्य परोपजीवी कीटों का भक्षण कर सकते हैं।

कुछ ग्वेनोन बन्दरों में कपोलीय झालर होती है। कुछ में माथे पर श्वेत पट्टी होती है। एक जाति के ग्वेनोन में तो नाक पर हल्के



श्वेतमुच्छीय कपि

रंग का धब्बा होता है। अतएव उसे 'रञ्जित नासिका वानर' कहते हैं। किन्तु सब से भव्य रूप मुच्छीय वानर का होता है। इसके ऊपरी ओंठ पर धूमिल नीला सा धब्बा होता है जो मूँछ सा जान पड़ता है इसलिए ग्वेनोन की इस जाति का मुच्छीय कपि नाम

पड़ा है। एक जाति में श्वेत दाढ़ी (कूर्च) होती है। इसे ड्याना बन्दर कहते हैं। किन्तु श्वेतकूर्चीय कपि नाम बिल्कुल उपयुक्त हो सकता है। कहा जाता है कि इसे अपनी दाढ़ी का बड़ा ही अभिमान होता है। मुख से पानी पीते समय यह दाढ़ी को एक ओर पकड़ रखता है। इसका रंग ऊपरी तल पर काला, भूरा, नीला और बादामी होता है तथा वक्षस्थल चमकीला श्वेत होता है।

वर्वेट ग्वेनोन हरित कपि समान ही होता है परन्तु श्वेत गलगुच्छे, पूँछ की काली छोर तथा पूँछ के आधार स्थल में कुछ लाल से रंग का धब्बा इसकी विशेषता होती है। यह विशेषतः एक पेड़ की गोंद ही, जंगली रूप में रहने पर, खाता है।

मोना बन्दर में पीठ के मध्य से दुम की जड़ तक सुन्दर बादामी पट्टी होती है। कण्ठ तथा वक्ष-स्थल श्वेत होता है। शरीर का रंग मटमैला धूसर होता है।

ग्वेनोन बन्दरों के अतिरिक्त मैंगेबी प्रजाति के बन्दर भी होते हैं जो अफ्रीका के उष्ण कटिबन्धीय भूभागों में रहते हैं। रंग रूप में ये ग्वेनोन से मिलते हैं। परन्तु इनका थूथन कुछ लम्बा होता है। डीलडौल भी कुछ बड़ा होता है। धूसरकपोल मैंगेबी, पट्टित मैंगेबी, शिखी मैंगेबी, चपल मैंगेबी, धूम्रीय मैंगेबी, काले मैंगेबी तथा श्वेतशीर्ष मैंगेबी इसकी जातियाँ हैं। मैंगेबी बन्दरों की पूँछ लम्बी होती है तथा अधिकांश जातियों में श्वेत पलक होते हैं। ये पश्चिमी अफ्रिका में पाए जाते हैं। इनमें स्वर-कोष्ठक नहीं होता। अतएव ये चुप्पा से पाए जाते हैं। धीरे से गले की गुर्राहट सा ही शब्द कर लेते हैं। ये छोटे दलों में रहते हैं तथा वृक्षों से कदाचित ही कभी दूर होते हों। ये प्रायः अपनी पूँछ ऊपर उठाए रख कर उसकी छोर पीछे मोड़े रहते हैं। वह उनके सिर तक पहुँची होती है।

पाटा कपि लम्बे पैरों के द्रुतगामी होते हैं। ये ग्वेनोन सदृश ही होते हैं परन्तु वृक्षचारी नहीं होते, बल्कि चट्टानी स्थलों तथा मैदानों में रहते हैं। इस कारण इनके पैरों के तलवे बैबूनों की तरह स्थूल बन गए होते हैं। इनके शरीर का ऊपरी तल नारंगी तथा उदर पैरों और पूँछ का रङ्ग श्वेत सा होता है। मुख काला होता है। अफ्रीका के उष्ण कटिबंधीय भूभाग में इनका निवास होता है। काली नाक का पाटा कपि कई नस्लों (उप जातियों) का होता है। वह सेनेगल से केमेरून तक और कांगो में पाया जाता है। पूर्वी अफ्रिका में श्वेत बालों युक्त नासिका का कपि मिलता है जो हेम्परिच हुस्सार नाम से ज्ञात है। इनका प्रसार कोरफोडन से उगंडा और ऊपरी कांगो तक पाया जाता है।

पाटा कपि दल रूप में घूमते हैं। ये बड़े निडर होते हैं। ये अपने आक्रामकों को प्रायः डंडे और अन्य उपकरण फेंक कर मारते हैं। ये कभी-कभी हाथ और पैरों पर ऊपर नीचे कुलाँच मार कर नाच सा कर अपना मनोविनोद करते हैं।

जम्बू कपि (मैकेक)

अफ्रिका में जिस प्रकार ग्वेनोन प्रजाति के कपियों का अधिक प्रसार है उसी प्रकार एशिया में मैकेक प्रजाति के बन्दरों का प्रसार है। एशियाई बन्दर कहने के स्थान पर इसका नाम पाश्चात्य जगत में यही प्रसिद्ध है। यदि इसे जम्बू (एशिया) कपि कहा जाय तो अनुचित नहीं। इसकी अनेक जातियों में निम्न का नाम लिया जा सकता है—बर्बर कपि (बार्बरी एप), कर्कभक्षी (क्रैब-ईटिंग), जापानी कपि, रक्तनितंब कपि (रीसस), सीमंतीय या माँग युक्त कपि (बोनेट), शूकरपूच्छीय आदि। इन नामों के अतिरिक्त भी जातियों के नाम है। कुल जातियाँ लगभग बीस पाई जाती हैं।

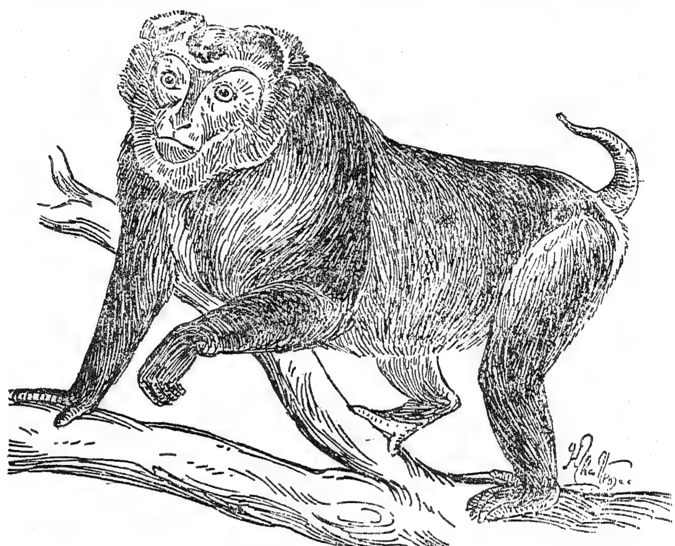
एशिया के अतिरिक्त क्षेत्र में कुछ का प्रसार पाया जाता है परन्तु अधिकांश जातियाँ एशियावासी ही हैं। मैकेक की जातियाँ पूँछ की लंबाई में भिन्नता रखती है। कुछ में तो छोटी ही पूँछ होती है। कुछ में केवल नाम मात्र को ही होती है, किन्तु कुछ जाति के मैकेकों में बहुत लंबी भी होती है। कुछ बिल्कुल पुच्छहीन भी होती हैं।

लम्बपुच्छीय जम्बू कपि (मैकेक) में सीमंतीय या माँगों वाला कपि (बोनेट मैकेक) सबसे अधिक प्रसिद्ध है। (सीमंत) दक्षिणी भारत में पाया जाता है। सिर पर स्त्री की माँग के समान बाल होने से ही इसे सीमंतीय कपि कहा जाता है।

रक्तनितंब कपि को बङ्ग कपि (रीसस) भी कहते हैं। यह उत्तरी भारत में पाया जाता है। शरीर का पिछला भाग लाल रङ्ग के बालों युक्त होता है। अतएव इसे रक्तनितंब कह सकते हैं। पूर्व में बर्मा, थाईलैंड, हिन्दचीन, और हैनान तथा उत्तर में चीन के पेकिंग नगर तक प्रसार पाया जाता है। इसके शरीर का रङ्ग हरापन युक्त धूसर तथा अधोतल में श्वेत होता है। मुख, कान, और हाथों का रङ्ग लाल से लेकर ताम्रवर्ण (मटमैला) तक होता है। सिर तथा धड़ की लम्बाई २५ इञ्च तथा पूँछ की लम्बाई १२ इंच होती है। ऊँचाई पर भी रह सकता है तथा विषम ऋतु का सामना कर सकता है। परन्तु हिमालय में नीचे मैदान में उतर आता है।

शूकरपुच्छीय कपि मलाया का निवासी है। इसकी पूँछ बहुत छोटी होती है तथा विरल बालों युक्त होती है। वह सूअर की पूँछ की तरह ऐंठन युक्त या पीठ पर आगे की ओर मुड़ी होती है। इसका ऊपरी तल जैतूनी भूरा, अगली भुजा पीलापनयुक्त, उदर पीलापन युक्त श्वेत तथा शरीर का नग्न भाग मटमैले लाल रङ्ग का होता है। सिर तथा धड़ की लम्बाई २४ इञ्च और पूँछ की लम्बाई

६-६ इञ्च होती है। इसका प्रसार तनासरिम (बर्मा), मलाया, सुमात्रा और बोर्नियो में है। यह वृक्षचारी से अधिक भूचारी है।



शूकरपुच्छीय कपि

सुमात्रा के पश्चिमी तट के पठारों में नारियल तोड़ने के लिए पाला जाता है किन्तु वनस्पति शास्त्री तो ऊँचे वृक्षों की चोटी के नमूने संग्रह कराने में इसका उपयोग करने लगे हैं।

बर्बरी कपि (बार्बरी एप) की कथा विचित्र है। यह कदाचित् जिब्राल्टर की पहाड़ी पर जंगली रूप में रहता था, परन्तु उसका अन्त हो गया। बाद में वहाँ फिर पहुँचाया गया। इसका रङ्ग जैतूनी भूरा होता है मुँह, हाथ तथा पैर भूरे होते हैं। नितंब प्रदेश धूमिल लाल होता है। पूँछ नाम मात्र की ही होती है। इसकी लंबाई

लगभग २ फुट ६ इंच होती है। इसका निवास मोरक्को और अल्जियर पहाड़ों में पाया जाता है। केवल यहीं एक बन्दर एशियाई जाति का है जो योरप में पाया जाता है। अफ्रीका के बार्बरी प्रदेश में वृक्षप्रधान भूभागों में यह अधिक पाया जाता है। इस कारण बार्बरी या बर्बरी नाम पड़ा है। मूर लोगों ने इस जाति के बन्दरों को उस स्थान पर पहुँचाकर प्रसारित किया था।

जिब्राल्टर पर बर्बरी कपि के निवास करने की ऐतिहासिक कथा है। १८५६ से वह वहाँ की अँग्रेजी लश्करों में प्रसिद्ध रहता आया है। पिछली शताब्दी के प्रारम्भ में कुल १३० बंदर थे। ये कई दलों में विभक्त थे। प्रत्येक दल एक प्रौढ़ कपि के अनुशासन में रहता रहा। ये लश्करियों, कृषकों, या अन्य लोगों को भारी क्षति पहुँचाते रहते। १९२१ में तो इनके आततायीपन की पराकाष्ठा सी पहुँच गई। एक विशालकाय वृद्ध नर कपि बड़ा ही उत्पाती सिद्ध हुआ। यह उत्पाती कपि मनुष्यों के लिए ही भयानक नहीं सिद्ध हुआ, बल्कि अपनी ही जाति की मादाओं का बध करने में प्रवृत्त पाया गया। पहले कितनी ही बार मनुष्यों के हाथ मारे जाने या अपने ही सजातीय पशुओं के हाथ मृत होने से उनकी संख्या अत्यधिक न्यून हो सकी थी। अतएव कई बार नए बर्बरी कपि वहाँ पहुँचाए जाते रहे। कौतूहल की बात यह है कि योरप भर में जङ्गली बन्दर केवल ये ही थे। उस समय जब किसी प्रकार उस हिंसक कपि का पता लगा तो वहाँ कुल आठ बन्दर ही शेष रह गए थे। इस उत्पाती को किसी प्रकार पकड़कर इसके सभी दाँत उखाड़ डाले गए। किन्तु ऐसे निरापद रूप का बनाकर उसे छोड़ने पर भी मादाओं की संख्या न्यून होने लगी। बाद में ज्ञात हुआ कि यह उत्पाती कपि मादाओं को किसी ऊँचे कगारे से नीचे फेंककर मार डाला करता था। उसकी यह करतूत ज्ञात होने पर कोई दूसरा

चारा न था। वह पकड़कर लन्दन की जन्तुशाला में बन्द कर दिया गया जहाँ बन्दी रूप में ही उसकी मृत्यु हुई।

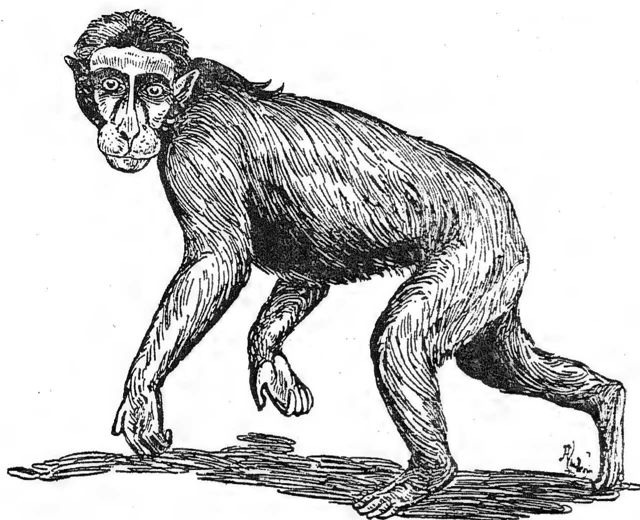
जिब्राल्टर में हाथी, गैंडे, तथा लकड़बग्घे के प्राचीन प्रस्तरा-वशेष मिले हैं। इसलिए अनुमान किया जाता है कि जिब्राल्टर कभी अफ्रीका से स्थल द्वारा सम्बद्ध रहा होगा। उस समय ही बार्बरी कपि भी वहाँ कदाचित पहुँचा हो, परन्तु कालान्तर में जल-प्रणाली द्वारा जिब्राल्टर के पृथक हो जाने से उसकी जाति भी पृथक पड़ी रह गई हो।

जापानी मैकेक बड़े आकार का पुच्छहीन कपि है। उसका शरीर चूहे से धूसर रङ्ग का होता है। मुख मटमैला लाल होता है। यह पर्वतों पर रहने वाला है। चीड़ के जङ्गलों से आवृत ऊँचे पहाड़ों पर पाया जाता है। जापान में इसे अर्द्ध पूज्य सा मानते हैं। इसका उल्लेख प्राचीन दन्तकथाओं में विशेष पाया जाता है। कला पूर्ण वस्तुओं पर तीन बन्दरों के पंक्ति में बैठे चित्र बने पाए जाते हैं। एक अपने हाथ से मुख बन्द रखता है। दूसरा बन्दर कान बन्द रक्खे रहता है तथा तीसरा आँखें बन्द रखता है। इसका भाव कदाचित कि पाप या कुकृत्य को देख, सुन या बोल न सकने का माहात्म्य प्रकट करना होता है।

फारमूसा में एक समुद्रजीवी सा मैकेक होता है। वह तट पर चट्टान की खोहों में रहता है और आहार के लिए समुद्र पर अव-लंबित रहता है। ज्वार के हटने पर तट पर छूटे जीव-जन्तुओं का ही आहार नहीं करता, बल्कि समुद्री शैवाल भी खा लेता है।

कृष्ण कपि सेलेबीज़ में पाया जाता है। यह बैबून और शुद्ध कपियों के मध्य का जन्तु ज्ञात होता है। यह केवल सेलेबीज़ में ही पाया जाता है। उस द्वीप में भी उत्तरी भाग में ही अधिक प्रसारित पाया जाता है। सिर से पैर तक इसका शरीर पूर्ण काला होता है।

इसकी पूँछ मैंड्रिल तथा ड्रिल की भाँति केवल एक खूँटी सी जान पड़ती है। यह सम्भानित कपि है। स्थानीय निवासी तो उसी का



सेलेबीज कृष्ण कपि

वंशज होने का गर्व करते हैं। यह पुष्ट जन्तु है। बैबून के विरुद्ध मुख्यतः वृक्षचारी होता है।

समस्त संसार के वानरों को दो पृथक विभागों में बटा माना जाता है। एक तो पूर्वी गोलार्द्ध (पुरानी दुनियाँ) के बन्दर कहलाते हैं, दूसरे विभाग को पश्चिमी गोलार्द्ध के बन्दर कहते हैं। पहले विभाग को प्राची कपि वर्ग और दूसरे को प्रतीची या पाताल कपि वर्ग कह सकते हैं। प्राची वर्ग या पुरानी दुनिया के बन्दरों की स्पष्ट पहचान यह है कि इनकी पूँछ अपने लपेट से कोई वस्तु पकड़ नहीं सकती। किन्तु नई दुनिया के बन्दरों में पूँछ की छोर

ग्राह्य शक्ति युक्त पाई जाती है। प्राची (पुरानी दुनिया) वर्ग के कपियों में एक और विशेषता यह होती है कि पैर पूर्ण विकसित होते हैं तथा नितम्ब पर थोड़ा या बहुत बाल रहित भाग होता है। इनमें मण्डली रूप में रहने की वृत्ति होती है। अकेले-दुकेले कभी-कभी ही पाए जाते हैं। ये देश-देशों में बहुत प्राचीन काल से पूज्य भी माने जाते रहे हैं।

पुरानी दुनिया के बन्दरों की जातियों को वानर वंश नाम दिया जा सकता है। इसके भी दो उपवंश होते हैं। एक को कपि



बहुरंजित (कोलोबस) छिन्नअंगुष्ठ कपि

उपवंश और दूसरे को लांगूल उपवंश कह सकते हैं। ऊपर वर्णित सभी जातियों के कपियों को कपि उपवंश का मानते हैं। लांगूल उपवंश में कोलोबस या ग्वेरेजा (छिन्नअङ्गुष्ठ कपि), लंगूर, शुंडीय कपि तथा चपटी नाक के कपि (चिपिट नासा) आदि होते हैं।

छिन्न अंगुष्ठ कपि 'ग्वेरेजा'

ग्वेरेजा या कोलोबस बन्दर सबसे अधिक अलंकृत कपि होते हैं। इनमें से बहुतेरे चटकीले रंगों के होते हैं तथा शिखा, दाढ़ी,



ग्वेरेजा (केशरी छिन्नअंगुष्ठ कपि)

मूँछ आदि रूप के बालों की बाढ़ रखते हैं। इनकी पूँछ में श्वेत बालों का बड़ा गुच्छा होता है। खाल पर इन रंगीन बालों के होने से सुन्दर रूप होने के कारण व्यवसायियों की धनलिप्सा के कारण इनकी जितनी अधिक संख्या का बध हुआ होगा, उतना किसी भी अन्य बन्दर का नहीं हुआ होगा। सन् १८६४ ई० में १६८४०० ग्वेरेजा बन्दरों के मारे जाने का उल्लेख है जिनकी खाल से पाँच लाख रुपए प्राप्त हो सके। इस तरह के नृशंस कार्यों का फल भी

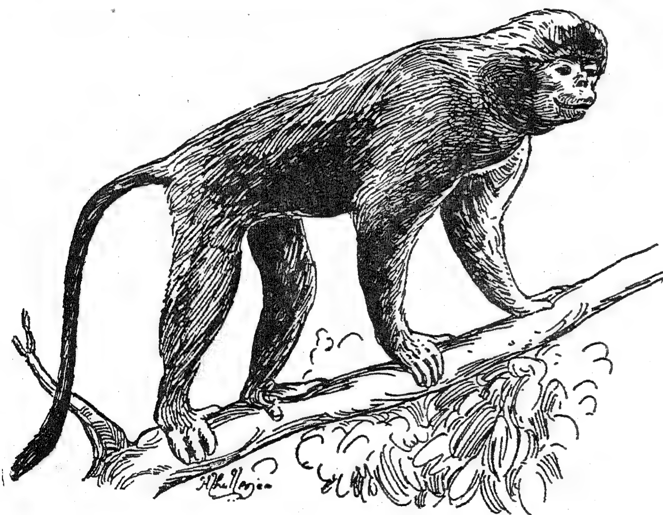
भोगना पड़ जाता है। ये बन्दर टिड्डियों के बहुसंख्यक अंडे चुन-चुन कर खा जाते हैं जिससे शलभ उत्पात न बढ़े। अतएव जिन क्षेत्रों से इनकी भारी संख्या मारी गई, शलभों का उत्पात अबाध रूप में बढ़ता पाया गया। इन बन्दरों को कोलोबस भी कहते हैं जिसका अर्थ छिन्नअङ्ग होता है। इनमें उँगलियाँ मुड़ कर अंकुश की भाँति कोई भी वस्तु पकड़ने का काम करती हैं अतएव अंगूठे की उपयोगिता नहीं रहती। इसी कारण वह लुप्त या क्षीण-सा हो गया रहता है। उसके स्थान पर एक मस्सा सा ही बना रहता है। इस रूप के कारण इनको छिन्नअंगुष्ठ (छिन्नांगुष्ठ) कपि कहा जाय तो उससे इनके हाथ की इस विचित्रता का बोध हो सके। इन बन्दरों का निवास अफ्रीका के उष्ण कटिबन्धीय भूभागों में पाया जाता है।

लंगूर को पत्रीय कपि भी कहते हैं। यह भारत, सिंहल तथा पूर्वी द्वीप समूह में पाया जाता है। इसका बदन छरहरा होता है। पूँछ बहुत लम्बी होती है। छोटा थूथन होता है। कपोल में भोजन चुरा सकनेवाली थैली नहीं होती। इसकी अनेक जातियाँ होती हैं। हनुमान, हिमालय लंगूर, चूड़ाधारी लंगूर, नीलगिरि लंगूर, और कृष्णशिख लंगूर आदि।

हनुमान का प्रसार मध्य और उत्तरी भारत में पाया जाता है। इसे लोग देवता-सा मानते हैं। इसकी लम्बाई ५ फुट होती है जिसमें ३ फुट इसकी गुच्छीय पूँछ ही होती है। इसका रंग धूसर-पन युक्त श्वेत होता है। हाथ और मुख का रङ्ग काला होता है। हनुमान लंगूर को हनुमान की उपजाति ही कहा जा सकता है। यह भूटान और काश्मीर के पहाड़ों में ६००० फुट की ऊँचाई पर पाया जाता है। चूड़ाधारी लंगूर हनुमान-सा ही होता है। यह आसाम, बर्मा, मलाया और जावा में पाया जाता है। नीलगिरि लंगूर दक्षिण

भारत में पाया जाता है। कृष्णशिख लंगूर के ऊपरी तल का रंग लाल भूरा तथा पैरों और पूँछ का रंग नारंगी होता है। सिर पर मटमैले रंग की शिखा होती है। यह सुमात्रा में पाया जाता है। सिंहल में रक्तमुखी लंगूर पाया जाता है। इसके शरीर का रंग धूमिल भूरा, कटि प्रदेश का धूसर श्वेत होता है। गलमुच्छे का रंग श्वेत होता है।

चपटी नाक के चिपिटनासा कपि की चार प्रसिद्ध जातियाँ होती हैं। इनको दीर्घ आकार के लंगूर ही कहना चाहिए। नर में नाक



चिपिटनासा कपि

का चपटा रूप विशेष व्यक्त रहता है। ये बड़े शक्तिशाली जन्तु हैं। ये ऊँचे स्थलों पर रहते हैं। ये बड़े उत्पाती भी होते हैं। एक

भारी दल को एक पर्वतीय दर्रे से जाते देख कर चीन में गाँव के



शुंडीय कपि

लोग उन्हें देखने निकले तो वे कपि घबड़ा कर भागने लगे। इस

भगदड़ में मद्य भरी बोतलें पीछे छूटी मिलीं। उन बन्दरों ने किसी गाँव की दूकान से लूट कर उन्हें प्राप्त किया था।

शुंडीय कपि केवल बोर्नियो में पाए जाते हैं। इनको लंगूरों का ही सम्बन्धी कह सकते हैं। इनका रंग लाल भूरा होता है। इनके नर में फूली हुई नाक इतनी बढ़ी होती है कि मुख से नीचे ठुड्डी तक लटकी मिलती है। मादा और अल्पवय में चपटी नाक ही होती है। इन कपियों में नासिका बढ़ी होने का कुछ कारण नहीं ज्ञात होता। कितनी ही जनश्रुतियाँ अवश्य पाई जाती हैं। ये जंगलों के जलखंडों से प्रायः दूर नहीं जाते। तैरने में बड़े कुशल होते हैं। पानी में प्रसन्नता से कूद पड़ते हैं। आधे मिनट तक डुबकी लगाए रह सकते हैं। ये झुण्डप्रिय होते हैं। परस्पर सौहार्द्र-पूर्वक रहते हैं। इस जाति के दो दल भी एक ही क्षेत्र में आनन्द-पूर्वक आहार ढूँढ़ते रह सकते हैं किन्तु दूसरी जाति के बन्दरों से मुठभेड़ लेकर उन्हें भगा ही देते हैं।

अमेरिका के बन्दर

नई दुनिया के बन्दरों को नितम्ब-प्रदेश बाल रहित होने के अतिरिक्त खाद्यसंचक कपोलीय थैली से भी रहित पाया जाता है। एक और विशेषता यह है कि उन सबमें नाक पुरानी दुनिया के बंदरों समान आगे की ओर निर्देशित नहीं होती, बल्कि बाहर की ओर निर्दिष्ट रहती है। दोनों नासारंध्र कोमल अस्थि की चौड़ी पट्टी से पृथक हुए रहते हैं। अमेरिका के सभी बन्दर प्रायः पूर्णतः वृक्षचारी ही होते हैं। बहुतों में अँगूठे प्रयोग में न आने के कारण लुप्त हो गये हैं। इनमें अधिकांश जातियों की पूँछ अपने लपेट से कोई वस्तु पकड़ सकने की शक्ति रखती है। ऐसे गुण को ग्राह्य-शीलता कह सकते हैं। इनमें किसी में भी अंगूठे अन्य उँगलियों

की विपरीत दिशा में मुड़ नहीं सकते। ये अनेक दृष्टियों से अफ्रीका तथा एशिया के बन्दरों से अधिक आदिम होते हैं। इनका निवास कीटों से परिपूर्ण देशों में होता है। अतएव कीटभक्षियों के कितने गुण इनमें पाये जाते हैं। दाँत प्रायः कीटभक्षियों समान ही होते हैं। हाथ और पैर की उँगलियों में चपटे नख के स्थान पर चंगुल



श्वेतनासा साकी बंदर

समान नख ही होते हैं। कुछ जातियों में एक से अधिक संतान

भी एकबार में उत्पन्न होती है। बन्दरों का डीलडौल मझोले आकार के कुत्ते बराबर होता है। पुरानी दुनिया के बड़े से बड़े बन्दरों के बराबर आकार कभी नहीं पाया जाता। ये मध्य तथा दक्षिणी अमेरिका में ही पाए जाते हैं।

साकी

साकी बन्दर पुष्ट शरीर तथा लम्बे घुँघराले बालों का जन्तु है। पूँछ मोटी झबरी होती है। सिर पर बालों की कलंगी होती है। यह दक्षिणी अमेरिका के उत्तरी भाग में मुख्यत: आमेजन क्षेत्र में पाया जाता है। इसके शरीर पर काले बाल होते हैं इस कारण श्वेत मुख दिव्य रूप का दिखाई पड़ता है। इसकी पूँछ ग्रहणशील



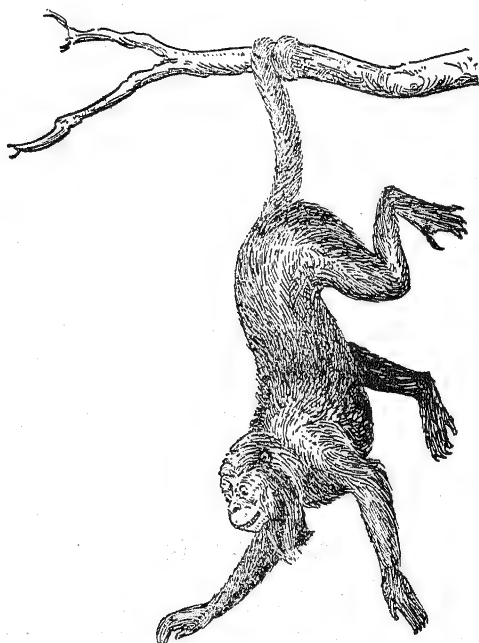
कूर्चीय साकी बंदर

नहीं होती। यह लज्जालु तथा दुर्लभ होता है। श्वेतनासा साकी की नाक श्वेत होती है। कूर्चीय साकी के मुख में दाढ़ी निकली होती है।

नादक कपि

नादक (हाउलिंग) बन्दर अमेरिका के सबसे बड़े बन्दर हैं। मादा नर से छोटी होती है। सिर पर कुछ ऊँचा माथा होता है

तथा स्पष्ट रूप का थूथन होता है। शरीर बलिष्ठ और पुष्ट होता है। पूँछ शरीर से अधिक लम्बी होती है। उसकी छोर का निचला तल नग्न होता है। हाथ और पैरों में पाँच उँगलियाँ होती हैं। दाढ़ी होती है। यह ग्वाटेमाला और होंडूराज से लेकर उरुगुई तक जंगलों में पाया जाता है। वृक्षों से कदाचित ही दूर हटता है।



नादकारी बंदर

पत्तियाँ इसका आहार हैं। इसकी चिल्लाहट मीलों दूर तक सुनाई पड़ती रह सकती है।

नादकारी कपि अमेरिका के बन्दरों में सबसे विलक्षण जन्तु

है। इसकी जीभ को अवलम्ब देने वाली अस्थियाँ संयुक्त होकर प्यालीनुमा रूप बना लिए होती हैं। यही इनके शब्द को उच्च बनाने वाला उपकरण होता है। ये प्रातः संध्या झुण्ड रूप में चिल्लाना प्रारम्भ करते हैं। इस सामूहिक गायन के लिए वे वृक्ष की सबसे ऊँची चोटियों पर जाकर आसन जमाते हैं। कई मील दूर तक यह सामूहिक घोष सुनाई पड़ता है। इनके ऐसे घोष में स्वर का उतार-चढ़ाव भी होता है।

कृष्ण नादक कपि में नर वृद्धों का रंग काला हो जाता है। ये इक्वेडर से पैरेगुए तक पाये जाते हैं। रक्त नादक कपि के सिर, हाथ पैर और पूँछ का रंग लाल भूरा या कलौंछ लाल होता है। ये वेनेजुएला से लेकर कोलंबिया, इक्वेडर, पूर्वी पेरू तथा पश्चिमी ब्राजील तक पाये जाते हैं। ग्वाटेमाला नादक कपि घोर काला होता है। यह ६००० फुट ऊँचे पर्वतों पर पाया जाता है।

नादक कपि बड़ा जीवंत होता है। उसकी ग्राह्यशील पूँछ की पकड़ मृत्यु के बाद घंटों तक उसे डाल से लटकाए रख सकती है।

शिखी कपि

केपुचिन की शीर्षीय चोटी बाल की होती है। इस कारण इसे शिखी कपि कह सकते हैं। मेक्सिको से पैरेगुए तक इसकी बीस जातियों का प्रसार पाया जाता है। अमेरिका के बन्दरों में इनका सबसे अधिक प्रसार है। इनकी दुम बड़ी ग्रहणशील होती है। मधुमक्खी के छत्ते या पक्षियों के घोंसले तक इसे पहुँचाने में वह बड़ी सहायता करती है। एक विशेष बात यह है कि रोष होने पर ये क्रुद्ध बिल्लियों की भाँति पीठ को मोड़ कर बीच में ऊँचा तान देते हैं।

ऊनी बन्दर कदाचित पूँछधारी बन्दरों में सबसे आकर्षक होते

हैं। गोल मुख तथा पुष्ट शरीर धूसर या भूरे रंग के घने ऊन से आच्छादित होता है। मुख का रंग काला होता है। पूँछ बहुत लम्बी तथा अत्यधिक ग्राह्यशील होती है। ये शान्त तथा सौम्यवृत्ति के जान पड़ते हैं परन्तु पुष्ट रदनक दाँत युक्त होते हैं। उसका

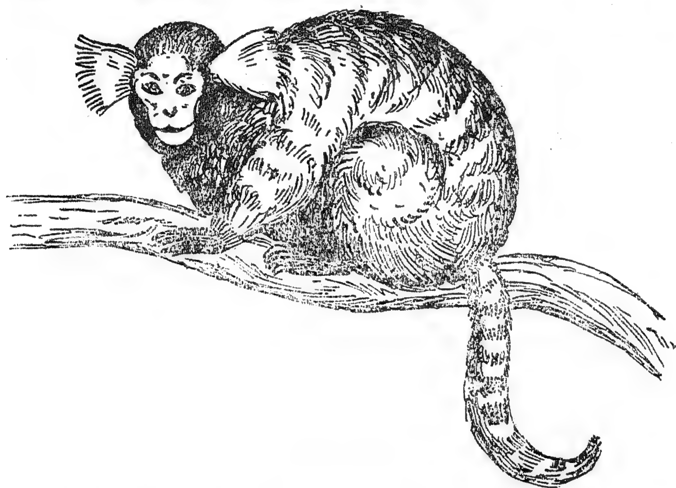


ऊनी बन्दर

उपयोग कठोर छिलके के फल तोड़ने में होता है। यह अपनी पूँछ लपेट कर बैठने का मोड़ा या स्टूल-सा बना लेता है।

मकड़ी बन्दर मेक्सिको से पैरेगुए तक पाए जाते हैं। ये वृक्ष-चारी नर रूप जन्तुओं में विशिष्ट रूप के होते हैं। भुजाएँ लम्बी होती हैं। अँगूठे का अभाव ही होता है। पूँछ की छोर का निम्नतल पूर्ण नग्न होता है। उससे वह फिसलन युक्त लताओं को पकड़ सकता है। यह दिवाचारी होता है।

रूषी या कलंदक बन्दर का आकार गिलहरी (कलंदक) सा होता है। यह दक्षिणी अमेरिका में कोस्टारिका से ब्राजील और बोलविया तक पाया जाता है। यह अधिक प्रचारित है तथा पालतू बनाया जाता है। इनका मस्तिष्क-प्रकोष्ठ मनुष्य के मस्तिष्क-प्रकोष्ठ से शरीर के अनुपात में बड़ा होता है किन्तु उनकी बुद्धि औसत बन्दरों से नीची ही होती है। नादक कपि तथा कलंदक कपि में शिशु-पोषण का भार नर पर ही होता है। नर एकाकी संतान को



नखर कपि

अपनी पीठ पर लाद कर चलता है। आहार के समय ही उसे मादा को देता है।

उलूकमुखी कपि निकारागुआ से लेकर आमेज़न और पूर्वी पेरू तक पाए जाते हैं। ये रात्रिचारी होते हैं। दक्षिण अमेरिका के जंगल कीटों से लदे पड़े होते हैं। उनमें रात को कीट का आहार बनाते तथा पक्षियों के अंडे खाते फिरते हैं।

नखर कपि (मारमोसेट्स) छोटे आकार के बड़े सुन्दर जन्तु हैं। इनके सिर या पूँछ पर प्रायः रंगीन बालों का आभूषण-सा होता है। बड़े से बड़े आकार के मारमोसेट का आकार गिलहरी से बड़ा नहीं होता। मुख और कान नग्न होते हैं। हाथ पैर में चंगुल होते हैं। रदनक दाँत बड़े या छोटे हो सकते हैं। इनमें भी नर ही शिशुपोषक होता है। जन्म लेते ही शिशु नर को सौंप दिया जाता है। लगभग वयस्क होने तक उसे उदर पर, या पीठ पर ढोता ही रहता है। बौना नखर कपि की लम्बाई केवल सात इञ्च होती है। लम्ब बहिर्मुखी दन्ती मारमोसेट में रदनक दाँत कर्तनक से बड़े होते हैं। दक्षिणी अमेरिका में महिलाएँ इन्हें पालतू रख जूँ निकालने का काम लेती हैं।

आविष्कारकों की कहानी

इन जीवन-कथाओं में उन वातावरणों का मनोरम चित्रण है जिनमें आविष्कारकों को रह कर अपनी अनुपम बुद्धि तथा कार्य-शक्ति का उदाहरण रखना पड़ा होगा। बेल, एडिसन, मारकोनी आदि के नाम तो हमें जब-तब सुनने को भी मिलते हैं; परन्तु हम यह नहीं अनुभव करते कि किस प्रकार अपने परिवार के सदस्यों से भी छिप कर, उनके तानों से बचने का उद्योग कर मारकोनी को रात-दिन ऐसी कल्पना को मूर्त्त रूप देने का साहस रखना पड़ा जिसे आज बेतार का तार कहा जाता है। इन प्रसिद्ध नामों के अतिरिक्त अपने पुत्र को मनोरंजन की सामग्री देने के लिए वयोवृद्ध डनलप को अकस्मात् पहिये की ठोस हाल के स्थान पर वायु भरी रबड़ नली रखने की सूझ उस समय विशेष महत्त्व की भले ही न जान पड़ी हो; परन्तु आज हमें उस घड़ी की स्मृति विशेष उत्प्रेरणा का कारण होती है। फोर्ड को अपनी भीषण आर्थिक विपत्ति तथा दर्जनों अभियोगों में पराजय से साहस छोड़ देने का एक भी क्षण आ सका होता तो आज हम फोर्ड द्वारा निर्मित इतनी सस्ती जनसुलभ मोटर गाड़ियाँ न देख पाते। विलियम फ्रीजी ग्रीनी का नाम आज फिर से स्मृत किया जाने लगा है जिसने चलचित्र का आविष्कार कर संसार को विलक्षण मनोरंजन की सामग्री उपस्थित किया; परन्तु अपने जीवन में दिवालिया बन कर वह अनेक बार जेल की हवा खाता रहा। इसी तरह सभी कहानियाँ विलक्षण हैं।

मूल्य २) रु०

किताब महल * प्रकाशक * इलाहाबाद

विलुप्त जन्तु

चट्टान के अन्दर जीवों की ठठरी के अवशेष कैसे रह सकते हैं ? हाथी की ऊँचाई के बराबर कौन पक्षी होता था ? कौन-सा जन्तु ३० फीट तक ऊँचा होता था ? किस जानवर के जाँघ की ६ फीट की हड्डी पाई जाती थी ? कौन से भारी जंतु दो पैर पर चलते थे ? किस चिड़िया के फैले हुए पंख उसके शरीर को २५ फीट चौड़ा बना सकते थे ? पैर से साँस लेने वाला त्रिफंकांगी जंतु कैसा होता था ? पूँछ में भाले और पीठ पर हड्डियों की खड़ी ढालें किस जंतु के होती थीं ? छः सींगों और ८० मन बोझ का षट्शृङ्गी जंतु कब और कहाँ पैदा हुआ ?

ऐसी समस्याओं को समझने के लिए आप यह पुस्तक पढ़ें जिसमें ५० करोड़ वर्ष पूर्व से आज तक के उन जंतुओं का वर्णन है जिनका संसार से लोप हो गया। उनकी कहानी उपन्यास या जासूसी कथा से अधिक रोमांचक है। विलुप्त जंतुओं की कथा के साथ पृथ्वी की कहानी की झाँकी भी देखने को मिलेगी।

मूल्य २) रु०

किताब महल * प्रकाशक * इलाहाबाद

विलुप्त वनस्पति

अरबों वर्ष पूर्व किस प्रकार वनस्पतियों का उदय तथा विकास हुआ, बहुत से वर्ग किस प्रकार लुप्त हुए तथा उनसे उत्कृष्ट वनस्पति वर्ग उत्पन्न होते गए? वनस्पतियों की वृद्धि के साधनों का कैसे विकास हुआ? बीजाणु क्या है, बीजाणु की तथा बीजाणु के पश्चात् कैसे बीजों की उत्पत्ति हुई? पत्तियों का उदय कैसे हुआ? करोड़ों वर्ष पूर्व काल में (कारबोनिफेरस) में कैसे घोर जंगल उत्पन्न होकर धरती की कोख में दब गये तथा पत्थर कोयले का जन्म दे सके? गोंडवाना देश की विचित्र स्थिति कैसी थी? जिह्वापत्री नामक जाति के वनस्पति क्यों इन गोंडवाना महादेश के भागों, भारत, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, दक्षिण अमेरिका आदि में ही मिलते हैं? यूरोप, उत्तरी अमेरिका आदि में वे क्यों नहीं मिलते? इसी प्रकार के विचित्र प्रश्नों का समाधान इस पुस्तक में पढ़ें।

मूल्य २)

किताब महल * प्रकाशक * इलाहाबाद

अच्छी पुस्तकें अच्छे व्यक्तित्व का निर्माण करती हैं

और

हम आपको आपके व्यक्तित्व के निर्माण-कार्य में यथाशक्ति सहायता प्रदान करने के लिए उत्सुक हैं। यदि आपका नाम अन्य हजारों ग्राहकों की भाँति हमारी उस सूची पर लिखा हुआ नहीं है, जिन्हें हम बराबर अपने नये प्रकाशनों की सूचना देते रहते हैं तो आज ही एक कार्ड अपने नाम-पते सहित हमारे पास लिख भेजें। एक बार आपका कार्ड मिल जाने पर हम आपको नियमित रूप से विविध प्रकार के मनोरंजक साहित्य के—जिनमें उपन्यास, (जासूसी और सामाजिक) कहानी संग्रह तथा अन्य साहित्य आदि भी सम्मिलित हैं—नये प्रकाशनों की खबरें भेजते रहेंगे। अपने यहाँ के किसी भी पुस्तक-विक्रेता से हमारी पुस्तकें माँगें। अगर कोई दिक्कत हो तो सीधे हमें लिखें।

एक और परामर्श

(१) आप आजकल के बढ़े हुए डाकखर्च से परिचित ही होंगे। स्थिति यह है कि एक रुपये की पुस्तक डाक द्वारा मँगाने पर लगभग एक रुपया ही व्यय पड़ जाता है। इसलिए अपने यहाँ के पुस्तक-विक्रेता से अनुरोध कीजिये कि वह आपकी रुचि की पुस्तकें हमसे मँगाये। हम पुस्तक-विक्रेता को भी सुविधाएँ देंगे और आपकी भी बचत में सहायक होंगे।

(२) यदि कोई पुस्तक-विक्रेता आपके अनुरोध पर विचार न करे तो आप उसका नाम-पता हमें लिख भेजिये। आपकी सुविधा के लिए हम उनसे आग्रह करेंगे कि वे आप द्वारा माँगी गयी पुस्तकें अपने यहाँ रखें।

किताब महल ● प्रकाशक ● इलाहाबाद